श्री भर्तृहरि कृत
नीतिशतकम्

डा. बाबूराम त्रिपाठी

श्री भर्तृहरिकृतम्

नीतिशतकम्

(मूल अन्वय, विस्तृत शब्दार्थं, अनुवाद एवं विश
व्याख्या, परिशिष्ट आदि सहित)

डा० बाबूराम त्रिपाठी
शास्त्री, एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत), पी-एच० डी०
संस्कृत विभागाध्यक्ष (नि०)
सेण्ट जांस कालेज, आगरा

महालक्ष्मी प्रकाशन, आगरा–२

भूमिका

महाराज भर्तृहरि जिन्हें योगिराज भर्तृहरि भी कहा गया है, 'नीति-शतक' के रचयिता हैं। पर महाराज भर्तृहरि के स्थितिकाल एवं उनके जीवन चरित्र के विषय में प्रामाणिक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। उनके स्थिति काल एवं जीवन चरित्र के विषय में कुछ जनश्रुतियाँ प्रचलित हैं, उन्हीं अनैतिहासिक जनश्रुतियों के आधार पर उनके स्थितिकाल एवं जीवन चरित्र के सम्बन्ध में कुछ काल्पनिक बातें नीचे दी जाती हैं—

प्रचलित भारतीय जनश्रुति महाराज भर्तृहरि को, विक्रम संवत् के संस्थापक महाराज विक्रमादित्य का बड़ा भाई मानती है। यदि इस जनश्रुति को ठीक भी मान लिया जाय तो भी इसमे महाराज भर्तृहरि के स्थितिकाल का कोई ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। प्रचलित विक्रम संवत् का आरम्भ प्रथम शताब्दी ई० पू० से होता है पर अभी तक इतिहास से यह प्रमाणित नहीं हो सका है कि ई० पू० प्रथम शताब्दी में कोई विक्रमादित्य नाम का राजा था। जब तक इस विक्रम संवत् के संचालक विक्रमादित्य का समय निश्चित नहीं हो जाता तब तक भर्तृहरि को विक्रम का बड़ा भाई मान लेने पर भी इनके स्थिति काल को नहीं जाना जा सकता है।

महाराज भर्तृहरि ने भी, अपनी रचनाओं में अपने स्थितिकाल एवं जीवन चरित्र के विषय में कुछ नहीं लिखा है। कोई बाह्य प्रमाण भी इस प्रकार का उपलब्ध नहीं होता जिससे कि इनकी स्थिति को प्रथम शताब्दी ई० पू० मान लिया जाता। इनकी रचनाओं से तो इतना ही ज्ञात होता है कि महाराज भर्तृहरि राजा होते हुए भी सच्चे प्रजापालक, गुणानुरागी एवं प्रभावशाली राजा थे, राजकीय वातावरण से तथा राजोचित व्यवहार से पूर्णतया अभिज्ञ थे। महाराज भर्तृहरि की प्रमुख रचनायें हैं 'सुभाषित त्रिशती' अर्थात् नीति शतक, शृंगार शतक और वैराग्य शतक, यही महाराज भर्तृहरि "वाक्य पदीय' के भी रचयिता माने गये है। वाक्य पदीय व्याकरण शास्त्र का उच्चकोटि का ग्रन्थ है। शेष तीन ग्रन्थ अपने-अपने नामों के अनुसार भिन्न-भिन्न विषयों से सम्बन्ध रखते हैं। कुछ लोगों ने भट्टिकाव्य का रचयिता भी भर्तृहरि को माना है पर भट्टिकाव्य के रचयिता

निश्चयतः इनसे भिन्न व्यक्ति थे। पर इनकी इन रचनाओं में इनके स्थिति काल के सम्बन्ध में कोई संकेत नहीं मिलता।

इसमें तो सन्देह नहीं कि महाराज भर्तृहरि का स्थितिकाल तृतीय शताब्दी के लगभग रहा होगा, क्योंकि भर्तृहरि के श्लोकों के उद्धरण अनेक ग्रन्थों में देखे जाते हैं, नवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में होने वाले आचार्य आनन्द वर्धन ने अपने ध्वन्यालोक में इनके श्लोकों को उद्धृत किया है, अतः निश्चयतः भर्तृहरि इसके पूर्व हो चुके होंगे, इनके अतिरिक्त रुय्यक, क्षेमेन्द्र, मम्मट, अप्पय दीक्षित, धनञ्जय आदि आलंकारिकों ने भी इनके श्लोक उद्धृत किये हैं। पञ्चतन्त्र में भी भर्तृहरि के श्लोक उद्धृत मिलते हैं। इस पञ्चतन्त्र का समय निश्चित रूप से षष्ठ शतक पूर्व का है अतः भर्तृहरि का समय षष्ठ शतक से भी पूर्व का होना चाहिए। ऐतिहासिक प्रमाणों से ज्ञात होता है कि ईसा की द्वितीय शताब्दी के आस-पास संस्कृत को राजाश्रय प्राप्त होने लगा था अतः उस समय पञ्चतन्त्र जैसे नीतिपरक सरल और सुबोध ग्रन्थों की आवश्यकता हुई होगी और यही पञ्चतन्त्र का समय माना जा सकता है। पञ्चतन्त्र में नीतिशतक के श्लोक पाये जाते हैं अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि ईसा की लगभग दूसरी शताब्दी ही भर्तृहरि का स्थितिकाल हो सकती है और यदि प्रथम शतक में विक्रमादित्य की स्थिति सिद्ध हो जाती है, तो भर्तृहरि को प्रथम शतक में मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती, पर जब तक यह सिद्ध नहीं होता तब तक जनश्रुति के आधार पर ही निर्भर रहकर और बाह्य साक्ष्य के काल्पनिक आधार पर भर्तृहरि को द्वितीय या तृतीय शतक के आस पास ही मानना उचित होगा।

स्थितिकाल की भाँति ही इनके जीवन चरित्र के विषय में भी जन-श्रुतियाँ ही आधार हैं। इनके आधार पर यह माना जाता है कि महाराज भर्तृहरि गन्धर्वसेन नामक राजा के पुत्र थे, विक्रम इनके सौतेले भाई थे। ज्येष्ट भ्राता होने के कारण भर्तृहरि राजा थे और विक्रम प्रधान मन्त्री के रूप में राज कार्य संचालन करते थे। दोनों भाइयों में गहरा प्रेम था। राजा अपने छोटे भाई विक्रम का बड़ा विश्वास करते थे, फलतः वे उन्हीं पर राज संचालन का भार छोड़ कर अपना जीवन आमोद-प्रमोद में बिताया करते थे। विक्रम यद्यपि सुचारु रूप से राजकार्य चला रहे थे फिर भी

उनको अपने भाई की यह स्त्रैण प्रवृत्ति अच्छी न लगती थी, उन्होंने महाराज को सचेत करने का भी प्रयास किया पर इसका कोई प्रभाव न पड़ा, निराश हो विक्रम राजकार्य करते रहे और महाराज भर्तृहरि अपनी पिंगला नाम की रानी पर मुग्ध होकर उसी के वशवर्ती बन कर आमोद-प्रमोद में जीवन बिताते रहे।

एक जनश्रुति के अनुसार एक ब्राह्मण ने तप के फलस्वरूप एक अमर फल प्राप्त किया और उसने यह समझ कर कि अमर फल के खाने से अमर होकर दीनता में अनन्तकाल तक जीवन बिताना पड़ेगा, वह फल राजा को दे दिया। यतः राजा अपनी रानी पिंगल से बहुत प्रेम करता था अतः उसने वह फल स्वयं न खाकर अपनी प्राणप्रिया रानी को दे दिया जिससे कि वह चिरकाल तक अनन्त यौवना बनी रहे। एक जनश्रुति बतलाती है कि रानी अपने राज्य के एक वरिष्ठ कर्मचारी से गुप्त प्रेम रखती थी पर राजा को उसके इस गुप्त प्रेम का पता न था, उनके अनुज विक्रम को जब यह गुप्तचरों द्वारा पता लगा तब उन्होंने राजा से सब वृत्तान्त कहा पर राजा तो रानी पर अटूट विश्वास रखता था अतः उसे विक्रम की बात पर विश्वास न हुआ अपितु वह उस पर अत्यधिक क्रोधित हुआ और उसे राज्य से बाहर निकाल दिया, इस प्रकार विक्रम के राज्य को छोड़कर चले जाने पर भी रानी और उस अधिकारी में गुप्त प्रेम चलता रहा। अमर फल मिलने पर प्रेमवश रानी ने उस फल को स्वयं न खाकर उस अपने प्रेमी को दे दिया। वह व्यक्ति भी रानी से सच्चा प्रेम न रखकर उसी नगर की एक वेश्या से प्रेम करता था अतः उसने उस अमर फल को उस वेश्या को दे दिया। अमर फल प्राप्त कर वेश्या ने सोचा कि इस फल को खाकर यदि मैं अमर हो जाऊँगी तो न जाने कब तक मुझे इसी प्रकार के कुकर्मों में जीवन बिताना पड़ेगा। अतः उसने उस फल को महाराज भर्तृहरि को दे दिया जिससे कि वह जीवित रह कर प्रजा का चिरकाल तक पालन कर सके। फल को वेश्या के हाथ से प्राप्त कर राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ, पता लगाने पर उसे सब रहस्य स्पष्ट हो गया, उसे अपनी मूढ़ता पर बड़ा दुःख हुआ, फलतः उसने निश्चय किया कि यह स्त्री प्रेम सर्वथा निःसार और हेय है और जिस संसार में ऐसी स्त्रियाँ रहती हों वह संसार भी तुच्छ है अतः उनसे संसार को छोड़ देने का निश्चय कर मंत्रियों से कहा कि तुम विक्रम का पता लगाओ उसको मैंने निरपराध दण्ड दिया है, जब उनका

पता लग जाये तब यह राज्य उनको दे देना और इस बीच तुम इस राज्य की रक्षा करो, मैं अब इस संसार को छोड़ कर विरक्त होकर जा रहा हूँ। मन्त्रियों ने राजा को विदा किया और विक्रम को खोजकर उसे राज सिंहासन पर बिठाया।

जिस समय महाराज भर्तृहरि राज्य छोड़कर जा रहे थें उस समय उन्होंने एक श्लोक कहा था जो कि नीति शतक के कुछ संस्करणों में उपलब्ध होता है—

यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता,
साऽप्यन्य मिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः।
अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या,
धिक्तां च तं मदनं च इमां च माम् च ॥

अर्थात् जिस स्त्री के विषय में निरन्तर सोचता रहता हूँ वह मुझ पर विरक्त है अर्थात् मुझ से प्रेम नहीं करती, वह भी दूसरे मनुष्य से प्रेम करती है, पर वह उसका प्रेमी अन्य नायिका पर आसक्त है, कोई अन्य स्त्री मुझ से सच्चा अनुराग रखती है, अतः इस स्थिति में उस स्त्री को, उस पुरूष को, और कामदेव को, तथा इस स्त्री को और मुझको धिक्कार है।

इसके उपरान्त वन में जाकर महाराज भर्तृहरि तपस्वी जीवन व्यतीत करने लगे। एक बार यहीं पर उनकी भेंट योगी गोरखनाथ से हुई जिनसे उन्होंने योग की दीक्षा लेकर योगाभ्यास कर अमरत्व प्राप्त किया।

महाराज भर्तृहरि का यही संक्षिप्त जीवन वृत्त है जो जनश्रुतियों पर आधारित है।

प्रस्तुत संस्करण

भर्तृहरिकृत नीतिशतक अनेक नैतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादक उत्कृष्ट ग्रन्थ है। इसमें प्रतिपादित सभी नैतिक सिद्धान्त किसी विशिष्ट जाति सम्प्रदाय वर्ग आदि से सम्बद्ध न होकर मनुष्य मात्र के लिये नीति कुशलता का उपदेश देने वाले हैं, इस कर्म भूमि में आकर किस प्रकार मनुष्य को व्यवहार कुशलता प्राप्त कर अपना जीवन निर्वाह करना चाहिये इसी बात का प्रतिपादन इस ग्रन्थ में किया गया है। नीतिशतक में वर्णित नीति का सम्बन्ध राजनीति से न होकर लोक व्यवहारसरणिमात्र से है अर्थात् इस ग्रन्थ का मुख्य प्रतिपाद्य लोक व्यवहार कुशलता ही है, राजनीति या अर्थ

नीति आदि नीति के विशिष्ट प्रकार नहीं। इसका सम्पूर्ण विषय मनुष्य के गम्भीर सांसारिक अनुभव पर आधारित है, धर्मात्मा सत्पुरुषों ने लोक से अनुभव प्राप्त कर मानव मात्र के लिये एक सरल जीवन पद्धति इस ग्रन्थ के प्रतिपाद्य के रूप में निरूपित की है। इसकी भाषा अतिसरल सुबोध एवं नित्य साधारणजनों के व्यवहार में आने वाली भाषा है, भाषा को बलात् अलंकृत करने का कहीं प्रयास नहीं है। साथ ही अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से शतक को कई अलग-अलग पद्धतियों में विभक्त कर दिया गया है, जैसे मूर्खपद्धति, दुर्जन पद्धति, मान शौर्य पद्धति, परोपकार पद्धति, दैवपद्धति, विद्वत् पद्धति आदि। इन पद्धतियों के अन्तर्गत कवि ने सद्गुण, विद्या, मान, वीरता, परोपकार, धर्म, तप, स्वाभिमान, भाग्य आदि विषयों का विशद विवेचन किया है और मानव जीवन में इनकी उपयोगिता का निर्देश, किया है। वास्तव में मानव जीवनोपयोगी प्रायः सभी विषयों से सम्बद्ध सुभाषितों का यह एक अलौकिक सग्रह है।

'नीतिशतक' के नाम से कई संस्करण प्राप्य हैं पर इनमें न केवल पाठभेद का ही अन्तर है अपितु श्लोकों की संख्या में अन्तर है। किसी संस्करण में ११२ किसी में १११ और किसी में १०२ तथा किसी में १०० श्लोक उपलब्ध होते हैं, किसी पुस्तक में कोई श्लोक किसी एक नम्बर पर मिलता है, तो दूसरे में वही श्लोक किसी अन्य नम्बर पर मिलता है। शब्दों में पाठभेद का अन्तर तो है ही, पर कहीं-कहीं एक-एक पंक्ति तक ऊपर नीचे कर दी गई है। इस स्थिति को देखकर मैंने नीतिशतक से सबसे पुराने संस्मरण को प्राप्त करने का उद्योग किया जो कि 'निर्णय सागर प्रेस' बम्बई से 'भर्तृहरित्रिशती' के नाम से निकला है। इसमें श्लोकों की संख्या तो १०० ही है जो कि शतक के लिये आवश्यक है पर फिर भी इसमें १०२ श्लोकों की टीका है, टीकाकार ने स्पष्ट लिखा है कि पता नहीं ये श्लोक भर्तृहरिकृत हैं या नहीं, पर मैंने नीतिशतक के नाम से उपलब्ध इनकी भी टीका कर दी है। इस प्रकार इस संस्करण के पाठों का तथा श्लोकों की संख्या का अनुमान करते हुये मैंने प्रस्तुत पुस्तक में १०२ श्लोकों की ही हिन्दी व्याख्या की है, क्योंकि ये इतने श्लोक ही प्रमाणिक है। नीतिशतक के अन्य संस्करणों में ११२ या १११ श्लोक उपलब्ध होते हैं। इनके कुछ तो श्लोक ऐसे हैं जो कि निर्णय सागर के प्रस्तुत संस्करण में हैं पर इन अन्य संस्करणों में नहीं हैं तथा

कुछ इन अन्य संस्करणों में उपलब्ध है पर निर्णय सागर संस्करण में नहीं हैं। पता नहीं अन्य संस्करणों में उपलब्ध ये अतिरिक्त श्लोक कब और कहाँ से जोड़े गये हैं और निर्णय सागर संस्करण के प्रामाणिक श्लोक इनमें छोड़ दिये गये हैं। इन अन्य संस्करणों में श्लोकों का कोई क्रम भी नहीं रखा गया है, किसी भी विषय का श्लोक किसी जगह रख दिया गया है जबकि निर्णय सागर संस्करण में सब श्लोक अलग-अलग पद्धतियों में विषयानुसार क्रम-बद्ध रूप में रखे गए हैं।

इस निर्णय सागर संस्करण के समस्त १०२ श्लोकों की हिन्दी व्याख्या करने के बाद मैंने अन्य संस्करणों में उपलब्ध होने वाले अन्य अतिरिक्त श्लोकों को अलग परिशिष्ट में रख कर उनका भी हिन्दी अर्थ लिख दिया है जिससे कि पाठकों को इन श्लोकों के भी पढ़ने और समझने की सुविधा हो सके, ऐसे श्लोक जो कि निर्णय सागर संस्करण में नहीं हैं, अपितु अन्य संस्क-रणों में उपलब्ध होते हैं और जिनको मैंने परिशिष्ट में रखा है, १८ हैं। इनका भी हिन्दी अनुवाद परिशिष्ट में इन के साथ ही साथ दिया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक में सरलता की दृष्टि से प्रत्येक श्लोक का अन्वय, शब्दार्थ अनुवाद, भावार्थ, देकर 'विशेष' शीर्षक के अन्तर्गत अलंकारादि का निर्देश किया गया है, सभी श्लोक मुक्तक रूप में पृथक्-पृथक् हैं, किसी एक कथा सूत्र में आवद्ध नहीं हैं, अतः श्लोक का सन्दर्भ भी पहिले लिया गया है। जहाँ कहीं ऐसा पाठान्तर मिला है जिससे कि अर्थ में विशेष अन्तर पड़ता हो, तो उसे 'फुटनोट' में रख कर स्पष्ट कर दिया गया है।

अन्वय और शब्दार्थ के बाद हिन्दी अनुवाद में यह विशेष ध्यान रखा गया है कि अनुवाद बिल्कुल शब्दानुयायी ही नहीं, विभक्तियों और वचनों के अनुसार भी हो। जहाँ कहीं स्पष्टता के लिये एक दो शब्द जोड़ने पड़े हैं वहाँ उन्हें कोष्ठक में रखा गया है। अनुवाद मात्र से शब्दार्थ भले ही स्पष्ट हो जाय पर श्लोक का भावार्थ या कवि का मन्तव्य स्पष्ट नहीं हो पाता अतः एक पृथक् भावार्थ शीर्षक के अन्तर्गत प्रत्येक श्लोक का भावार्थ स्पष्ट किया गया है। काव्य सौन्दर्य की दृष्टि से यथास्थान अलंकारों एवं छन्दों तथा कुछ आवश्यक व्याकरण सम्बन्धी नियमों की ओर भी निर्देश किया गया है। अपनी दृष्टि से पुस्तक की व्याख्या में सरलता का विशेष ध्यान रखा गया है जिससे पाठक इन सुभाषितों से अपने आप परिचित हो सकें और इस नैतिक उपदेश से लाभ उठा सकें।

श्री कृष्ण जन्माष्टमी — बाबूराम त्रिपाठी

संवत् २०२७

सेण्ट जांस कालेज, आगरा

नीतिशतकम्

मंगलाचरणम्

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्त्तये ।
स्वानुभूत्येकमानाय[1] नमः शान्ताय तेजसे ॥१॥

अन्वय—दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्त्तये स्वानुभुत्येकमानाय शान्ताय तेजसे नमः ।

शब्दार्थ—दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्त्तये=दश दिशाओं और तीन कालो में परिपूर्ण, अनन्त, और केवल चैतन्य स्वरूप, स्वानुभूत्येकमानाय= आत्मानुभव मात्र से ही साक्षात्कार करने योग्य, शान्ताय=परम शान्त तथा प्रसन्न, तेजसे=ज्योति:स्वरूप तेजोरूप (पर ब्रह्म को) नमः=नमस्कार है ।

अनुवाद—पूर्वादिदश दिशाओं तथा वर्तमानादि तीनों कालों में परिपूर्ण अर्थात् विभु । नित्य और एक होने के कारण देश, काल तथा वस्तु मात्र से अपरिच्छिन्न, अनन्त और एक मात्र चैतन्य स्वरूप, केवल स्वानुभूति मात्र से प्रत्यक्षयोग्य, परम शान्त तथा प्रसन्न तेजोरूप पर ब्रह्म को नमस्कार है ।

भावार्थ—भारतीय कवि प्राय: अपने ग्रन्थ की निर्विघ्नता-पूर्वक परिसमाप्ति के लिए ग्रन्थ के आदि, मध्य, और अन्त में मङ्गलाचरण करता है, वह अपने इष्टदेव की इस मङ्गलाचरण में वन्दना करता है । इसी पद्धति के अनुसार योगीश्वर राजर्षि भर्तृहरि प्रस्तुत प्रथम श्लोक द्वारा परब्रह्म की वन्दना करते हैं—

इसमें "नम:" को छोड़कर चारों ही पद ब्रह्म के विशेषण हैं । वह ब्रह्म देश कालादि से सर्वथा अपरिच्छन्न है अर्थात् उसे देश और काल तथा किसी पदार्थ की सीमा में आवद्ध नहीं किया जा सकता, साथ ही वह अनन्त एवं

---

१. किसी पुस्तक में 'स्वानुभूत्येकमानाय' के स्थान पर 'स्वानुभूत्येकसाराय' पाठ है जिसका अर्थ भी 'स्वानुभव मात्र से प्रत्यक्ष करने योग्य' है, क्योंकि निराकार ब्रह्म का साक्षात्कार चक्षुरिन्द्रिय से नहीं हो सकता, वह केवल अनुभूतिमात्र का विषय है ।

केवल चैतन्य स्वरूप है। परम शान्त तथा अविद्या एवं मायाकृत सभी कार्यों से परे होने से प्रसन्न निष्क्रिय केवल प्रकाश स्वरूप है। इन विशेषणों से स्पष्ट है कि इसमें निराकार, आत्मस्वरूप, चैतन्यरूप, शान्त एवं तेजोरूप आनन्द-घन ब्रह्म की प्रार्थना है।

विशेष—'नमः' के योग में दिक्कालादि सभी विशेषणों में चतुर्थी विभक्ति है। ब्रह्म स्वभाव का वर्णन होने के कारण इसमें स्वभावोक्ति अलंकार तथा अनुष्टुप् छन्द है।

(अथ मूर्खपद्धतिः)

प्रस्तुत काव्य प्रबन्ध में विविध प्रकार के श्लोक हैं, जिनको स्पष्टता की दृष्टि से भिन्न भिन्न पद्धतियों में विभक्त किया गया है। यहाँ मूर्खजन पद्धति का आरम्भ किया गया है। अर्थात् इसमें बतलाया गया है कि मूर्खजन किस प्रकार का व्यवहार करते हैं।

प्रसंग—प्रस्तुत श्लोक द्वारा कवि ने यह बतलाया है कि सहृदय जनों के अभाव के कारण सुभाषित या प्रियवचन कहने का कहीं अवकाश ही नहीं है।

बोद्धारो मत्सरग्रस्ताः प्रभवः स्मयदूषिताः
अबोधोपहताश्चान्ये जीर्णमंगे सुभाषितम् ॥२॥

अन्वय—बोद्धारः मत्सरग्रस्ताः, प्रभवः स्मयदूषिताः, अबोधोपहताः च अन्ये, सुभाषितम् अङ्गे जीर्णम् (अस्ति)।

शब्दार्थ—बोद्धारः=परिज्ञान रखने वाले विद्वज्जन, मत्सरग्रस्ताः= मत्सर असूया या दूसरे के उत्कर्ष को न सहना, ग्रस्ताः=आक्रान्त या भरे हुए अर्थात् असूया से भरे हुए, प्रभवः=सामर्थ्यवान् राजा आदि, स्मयदूषिताः =गर्व से दुर्विनीत हैं, अन्ये च अबोधोपहताः=और दूसरे लोग अज्ञान या मूढ़ता से युक्त हैं। सुभाषितम्=प्रियवचन, अंगे जीर्णम्=भीतर ही छिपा हुआ है।

अनुवाद—विज्ञजन (तो) असूया से आक्रान्त हैं, राजा आदि ऐश्वर्यवान् पुरुष गर्व से दुर्विनीत हैं, और दूसरे लोग अज्ञानी हैं (अतः) सुभाषित भीतर ही छिपा हुआ है।

भावार्थ—लोक नीति सम्बन्धी प्रिय उपदेश आरम्भ करते समय कवि

सोचता है कि संसार में जो लोग विज्ञ हैं तो वे परस्पर असूया से समाक्रान्त हैं अर्थात् दूसरे के प्रिय वचनों को भी ईर्ष्यावश सुनना नहीं चाहते, वस्तुतः विज्ञ होते हुए भी वे सहृदय नहीं है अतएव वे सुभाषित भी सुनना नहीं चाहते। ऐश्वर्यशाली राजा आदि भी सुभाषित सुनना नहीं चाहते क्योंकि वे अपने गर्व से इतने दुर्विनीत हो गये हैं कि उन्हें किसी के प्रिय वचन भी अच्छे नहीं लगते। इनके अतिरिक्त जो अन्य जन हैं वे भी सुभाषित सुनना नहीं चाहते क्योंकि वे अज्ञानी हैं, वे जानते ही नहीं कि किसी विद्वान् के नैतिक उपदेश से क्या लाभ हो सकता है; अतः अपनी मूढ़ता वश वे भी सुभाषित नहीं सुनते। यही कारण है कि आज भी सुभाषित विद्वज्जनों के हृदय में ही छिपा हुआ है, वह बाहर नहीं निकल सका है। फिर भी कवि कहना आरम्भ करता ही है।

विशेष—इसमें भी पूर्ववत् अनुष्टुप् छन्द है।

प्रसंग—प्रस्तुत श्लोक में कवि मूर्खजन के स्वरूप को बतलाता हुआ कहता है—

अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः।
ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्माऽपि नरं न रञ्जयति ॥३॥

अन्वय— अज्ञः सुखम् आराध्यः, विशेषज्ञः सुखतरम् आराध्यते। ब्रह्मा अपि ज्ञानलवदुर्विदग्धम् नरम् न रञ्जयति।

शब्दार्थ—अज्ञः=नितान्त मूढ़ जन, सुखम्= सुख पूर्वक, अनायास ही, आराध्यः=समाधेय—समझाने बुझाने योग्य होता है। विशेषज्ञः=विशिष्ट बुद्धि रखने वाला अर्थात् तत्ववेत्ता जन, सुखतरम्= और भी अधिक आसानी से, आराध्यते=समझाया जा सकता है। ब्रह्मा अपि= जगन्निर्माता ब्रह्मा भी ज्ञानलवदुर्विदग्धम्=ज्ञान के लेशमात्र से भी दुर्विदग्ध अर्थात् अपने को विद्वान् मानने वाले नरम्=मनुष्य को, न रञ्जयति=समझा बुझाकर सन्मार्ग पर नहीं ला सकता।

अनुवाद—नितान्त मूढ़ जन सुखपूर्वक समाधेय होता है, विशिष्ट ज्ञान रखने वाला व्यक्ति और भी आसानी से समाधान योग्य होता है, परन्तु चतुर्मुख ब्रह्मा भी, थोड़े से ही ज्ञान से अपने को पण्डित मानने वाले मनुष्य को नहीं समझा सकता है।

भावार्थ—कवि ने यहाँ पर तीन प्रकार के मनुष्य बतलाये हैं—प्रथम वे जो कि बिल्कुल मूर्ख हैं, कुछ भी नहीं जानते, दूसरे प्रकार के वे जो विशिष्ट ज्ञान रखते है, अच्छे तत्ववेत्ता तथा ज्ञानी हैं, तथा तीसरे प्रकार के वे लोग हैं जो कि इधर-उधर से सुनकर कुछ ज्ञान प्राप्त कर सके हैं, पर इतने से ही ज्ञान से अपने को सर्वज्ञ विद्वान् मानने लगे हैं। कवि का कथन है कि प्रथम कोटि के लोगों को तो बड़ी आसानी से किसी सुभाषित की उपयोगिता को समझाया जा सकता है और जो दूसरी कोटि के लोग है उन्हें तो और भी अधिक आसानी से समझाया जा सकता है, पर जो तृतीय श्रेणी के लोग हैं उन्हें तो मनुष्य तो क्या चतुर्मुख ब्रह्मा भी नहीं समझा सकता, क्योंकि वे पहले से ही अपने को विद्वान् मान बैठे है, उनको किसी के नैतिक उपदेश की आवश्यकता ही क्या ? ऐसे ही लोग संसार में असमाधेय होते हैं, जिन पर प्रिय और हितकर वचनों का भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ऐसे ही लोगों के विषय में कहा गया है कि "फूलहिं फलहिं न बेत, यदपि सुधा बरसहिं जलद। मूरख हृदय न चेत जो गुरु मिलहिं विरञ्चि सम।"

विशेष—यह आर्या जाति का एक भेद है।

प्रसंग—प्रस्तुत श्लोक में कवि मूर्खजन के चित्त की दुराराध्यता का वर्णन करता हुआ कहता है—

> **प्रसह्य मणिमुद्धरेन् मकरवक्त्रदष्ट्रान्तरात्[1]।**
> **समुद्रमपि सन्तरेत् प्रचलदूर्मिमालाकुलम्।**
> **भुजंगमपि कोपितं शिरसि पुष्पवद् धारयेत्।**
> **न तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत् ॥४॥**

अन्वय— (जनः) मकरवक्त्रदष्ट्रान्तरात् प्रसह्य मणिम् उद्धरेत्। प्रचल-दूर्मिमालाकुलम् समुद्रम् अपि संतरेत्। कोपितम् भुजंगम् अपि शिरसि पुष्पवद् धारयेत्। तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तम् न आराधयेत्।

---

१. किसी पुस्तक में 'दंष्ट्राङ्कुरात्' पाठ है, वहाँ इसका अर्थ है—दाढों के नोक में से।

शब्दार्थ—मकरवक्त्रदंष्ट्रान्तरात्=मगर के मुख के तीक्ष्ण दाढों के भीतर से, प्रसह्य=बालत्=बलात्कार पूर्वक, मणिम्=रत्न को, उद्धरेत्=बाहर निकाल ले। प्रचलदूर्मिमालाकुलम्=चलायमान चञ्चल लहरों के समूह से विक्षुब्ध—तरंगित—ऊँचे नीचे उठने गिरने वाले। समुद्रम् अपि=समुद्र को भी। संतरेत्=तैर कर पार कर ले। कोपितम्=अति क्रुद्ध। भुजंगम् अपि=सर्प को भी। पुष्पवत्=पुष्पमाला की तरह। शिरसि=शिर पर। धारयेत्=धारण कर ले। तु=किन्तु। प्रतिनिविष्टमूर्खजन-चित्तम्=दुराग्रही—अपनी जिद्द पर ही डटे रहने वाले—मूर्ख मनुष्य के मन को। न=नहीं, आराधयेत्=समाधान करे।

अनुवाद—(यदि, कोई मनुष्य चाहे तो) मगर के मुख की दाढ़ों के भीतर से बलात् रत्न को (भी) निकाल ले, चंचल लहरों के समूह से विक्षुब्ध समुद्र को भी तैर कर पार कर ले, अति क्रुद्ध सर्प को भी पुष्पमाला की तरह शिर पर धारण कर ले किन्तु दुराग्रही हठी मूर्खजन के चित्त को (कोई) वश करने का साहस न करे।

भावार्थ—मगर की दाढों में से मणि को बलात् निकाल लेना मनुष्य के लिये अति दुष्कर है, प्रायः असम्भव ही है, फिर भी कोई महाबलशाली जन प्राणार्पण कर यदि ऐसा करने का साहस करे तो कर सकता है और सफलता भी मिल सकती है। यद्यपि चञ्चल लहरों से विक्षुब्ध समुद्र को अपनी भुजाओं के बल तैर कर पार करना असम्भव ही है; तथापि यदि कोई बलवान् ऐसा साहस करे तो कर भी सकता है। इसी प्रकार अति क्रुद्ध हुए भयानक सर्प को पुष्पमाला की तरह शिर पर धारण कर लेना यद्यपि अति दुष्कर कार्य है, तथापि यदि कोई इतना साहसी हो तो वह भगवान् शिव की भाँति सर्प को भी सिर पर धारण कर सकता है। तात्पर्य यह कि यद्यपि ये पूर्वोक्त तीनों कार्य प्रायः अघटित एवं असम्भव हैं तथापि यदि कोई साहस करे और ऐसा करने में समर्थ भी हो जाय तो भले ही वह इन कामों को कर ले परन्तु दुराग्रही मूर्खजन के चित्त को वश में करना अथवा उसे समझा बुझा कर सन्मार्ग पर लाने का प्रयास करना सर्वथा असम्भव ही है। मनुष्य को कभी दुराग्रही मूर्ख को समझाने का प्रयास ही नहीं करना चाहिए। दुराग्रही या जिद्दी व्यक्ति जिस बात पर जम जाता है, उससे कदापि नहीं हटता। जैसा

कि एक योरोपीय विद्वान् लावेल (Lowell) ने कहा है "The foolish and the dead alone never change their opinion" केवल मूर्ख और मृतक ही अपनी राय नहीं बदलते'' लैवेटर महोदय (Lavater) ने प्रतिनिविष्ट मूर्खजन के विषय में ऐसी ही बात कही है "He knows very little of mankind who expects by facts or reasoning to convince a determined foolish. दुर्योधन का उदाहरण भी इस सम्बन्ध में स्मरणीय है, जो कि भगवान कृष्ण के समझाने पर भी न समझा और अन्त में विनष्ट ही हुआ।

विशेष—"कोपितम्" में "तदस्य संजातं तारकादिभ्य इतच्" सूत्र से इतच् (इत) प्रत्यय है, क्योंकि तारकादि आकृतिगण है । प्रस्तुत श्लोक में असम्बन्ध रूपतिशयोक्ति अलंकार है।

प्रसंग—अत्यन्त दुर्लभ वस्तु को भी प्राप्त किया जा सकता है, पर दुराग्रही मूर्खजन के चित्त को वश में नहीं किया जा सकता, इसी बात को कवि ने प्रस्तुत श्लोक में बतलाया है—

लभेत सिकतासु तैलमपि यत्नतः पीडयन्,
पिबेच्च मृगतृष्णिकासु सलिलं पिपासार्दितः ।
कदाचिदपि पर्यटञ्छशविषाणमासादयेत्
न तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्त माराधयेत् ॥५॥

अन्वय—यत्नतः पीडपन् (कदाचित् कोऽपि) सिकतासु अपि तैलम् लभेत । पिपासार्दितः (कदाचित्) मृगतृष्णिकासु सलिलम् पिवेत् च । कदाचित् अपि पर्यटन् ऽशशविषाणम् आसादयेत् । तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तम् न आराधयेत् ।

शब्दार्थ—यत्नतः=प्रयत्न तथा परिश्रम पूर्वक । पीडयन्=पीड़ित करता हुआ—पीसता हुआ । सिकतासु=बालू के कणों में । अपि=भी, तैलम्—तेल को; लभेत=प्राप्त कर ले । पिपासार्दितः=प्यास से पीड़ित व्यक्ति, मृगतृष्णिकासु=मरुमरीचिकाओं में (भी) सलिलं पिबेत्=जल पी सके । कदाचिदपि=कभी, पर्यटन्=घूमता हुआ—चारों ओर खोजता हुआ । शशविषाणम्=खरगोश का सींग भी । आसादयेत्=प्राप्त कर ले । तु=किन्तु । प्रति-

निविष्टमूर्खजनचित्तम्=दुराग्रही मूर्ख व्यक्ति के चित्त को। न आराधयेत्= वशवर्ती न कर सके।

अनुवाद—(कदाचित् कोई व्यक्ति भले ही) प्रयत्न पूर्वक पीसता हुआ बालू के कणों में से भी तेल प्राप्त कर ले, और प्यास से पीड़ित व्यक्ति (भले ही कभी) मरुमरीचिकाओं में भी जलपान कर सके तथा कदाचित् (कोई) (यत्र तत्र वन प्रदेश में) घूमता हुआ खरगोश का सींग भी प्राप्त कर ले परन्तु दुराग्रही मूर्खजन के चित्त को (कोई) वश में नहीं कर सकता है।

भावार्थ—बालू से तेल निकालना, मरुमरीचिकाओं से प्यास बुझाना, और खरगोश का सींग प्रप्त करना सर्वथा असम्भव है। फिर भी प्रयत्न करते-करते भले ही कोई इन असम्भव वस्तुओं को प्राप्त कर ले अर्थात् इनकी प्राप्ति में भले ही उसे सफलता मिल जाय पर दुराग्रही मूर्ख जन के चित्त का वश में करना सर्वथा असम्भव ही है। ऐसा आज तक कोई नहीं कर सका है। जैसा कि कहा जाता है—मूरख हृदय न चेत जो गुरु मिलहिं विरञ्चि सम। फूलहिं न वेत यदपि सुधा वरसहि जलद। रावण का उदाहरण भी इसी बात को सिद्ध करता है। दुराग्रही रावण पर मन्दोदरी विभीषण, मारीच आदि के समझाने-बुझाने का कोई प्रभाव न पड़ा और वह अपने आग्रह पर ही डटा रहा था। जयन्त और बालि के दृष्टान्त भी इस सम्बन्ध में स्मरणीय हैं।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में भी असम्बन्ध में सम्बन्ध लक्षणा अतिशयोक्ति है तथा इसमें और इससे पूर्व के श्लोक में पृथिवी नामक छन्द है जिसका लक्षण है—"जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथिवी गुरुः" वृत्त रत्नाकर।

प्रसंग—दुराग्रही मूर्ख को समझाने बुझाने की इच्छा करने वाला व्यक्ति भी अविवेकी ही होता है। इसी बात को कवि ने इस श्लोक में बतलाया है—

व्यालं बालमृणालतन्तुभिरसौ रोद्धुं रसमुज्जृम्भते।
भेत्तुं वज्रमणिं[1] शिरीषकुसुमप्रान्तेन सन्नह्यति।
माधुर्यं मधुबिन्दुना रचयितुं क्षाराम्बुधे राम्बुधे रीहते।
मूर्खान् यः प्रतिनेतुमिच्छति बलात् सूक्तैः सुधास्यन्दिभिः॥६॥

---

१. प्रस्तुत श्लोक में वज्रमणिम् के स्थान पर वज्रमणीन्, सन्नह्यति के स्थान पर सन्नह्यते, तथा चतुर्थ पंक्ति में नेतुं वाच्छति यः खलान् पथि सतां सूक्तैः; सुधास्यन्दिभिः पाठान्तर हैं, पर अर्थ में कोई विशेष अन्तर नहीं है।

अन्वय—असौ व्यालम् बालमृणालतन्तुभिः रोद्धुम् समुज्जृम्भते, (असौ) शिरीषकुसुमप्रान्तेन वज्रमणिम् भेत्तुम् सन्नह्यति, (असौ) मधुविन्दुना क्षाराम्बुधेः माधुर्यम् रचयितुम् ईहते; यः बलात् सुधास्यन्दिभिः सूक्तैः मूर्खान् प्रतिनेतुम् इच्छति।

शब्दार्थ—असौ=यह वह पुरुष, व्यालम्=हाथी को, बालमृणालतन्तुभिः=कोमल कमल दण्ड के तन्तुओं से; रोद्धम्=बाँधने के लिए, समुज्जृम्भते=प्रयत्न करता है। शिरीषकुसुमप्रान्तेन=सिरस नामक अति कोमल पुष्प के प्रान्त भाग अर्थात् किनारे या छोर से या नोक से, वज्रमणिम्=हीर नामक मणि विशेष को, भेत्तुम्=तोड़ने के लिये, सन्नह्यति=उद्योग करता है, मधुबिन्दुना=मधु की बूँदमात्र से, क्षाराम्बुधेः=खारे सागर की, माधुर्यम्=मधुरता को, रचयितुम्=करने के लिए; ईहते=चेष्टा करना है, यः=जो कि बलात्=बलपूर्वक, हठपूर्वक, सुधास्यन्दिभिः सूक्तैः=अमृतस्रावी-अमृतमय-अति मधुर, प्रियवचनों से, उपदेशों से, मूर्खान्=मूढ़ जनों को, प्रतिनेतुम्=सन्मार्ग पर लाने के लिये, इच्छति=इच्छा करता है।

अनुवाद—वह पुरुष हाथी को कोमल कमल दण्ड के रेशों से बाँधने के लिये प्रयत्न करता है, सिरस जैसे कोमल पुष्प के प्रान्त भाग से हीराख्य मणि को तोड़ने के लिये उद्योग करता है और मधु के बिन्दु मात्र से खारे सागर की मधुरता को सम्पादित करने के लिये चेष्टा करता है; जो कि हठपूर्वक अपने अमृतमय प्रिय उपदेशों से मूढ़जनों को सन्मार्ग पर लाने के लिये इच्छा करता है।

भावार्थ—गजराज जैसा बलवान् पशु जो कि रस्सों से भी बाँधा नहीं जा सकता, ऐसे भी पशु को मानो वह व्यक्ति कोमलकमलदण्ड के रेशों से बाँधना चाहता है, तथा जो हीरा बड़े-बड़े घनों की चोट से भी नहीं तोड़ा जा सकता उसको भी मानो वह व्यक्ति सिरस जैसे कोमल पुष्प की पंखुड़ी के अग्रभाग से ही तोड़ देना चाहता है, एवं जो खारी समुद्र, सभी प्रकार के अति मधुर पदार्थों से भी मीठा नहीं बनाया जा सकता ऐसे भी क्षारसागर को मानो वह व्यक्ति केवल एक मधुविन्दु से ही मीठा कर देना चाहता है, जो कि अपने मधुर उपदेशों से मूढ़जनों को सन्मार्ग पर लाने की चेष्टा करता है। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार खारी सागर मधुविन्दू से मीठा नहीं हो सकता, शिरीषकुसुम से

हीरा नहीं तोड़ा जा सकता, विस तन्तुओं से गज नहीं बाँधा जा सकता, उसी प्रकार मूढ़जन को भी समझाया नहीं जा सकता फिर भी जो कि ऐसा प्रयास करता है वह उस मूढजन से भी अति मूढ है। मूढ़जन को समझाने का प्रयास करना वस्तुतः अपनी ही मूर्खता प्रकट करना है अतः ऐसा प्रयास नहीं करना चाहिये। सत्पात्र पर ही सुशिक्षा फलीभूत होती है, कुपात्र को दिया गया उपदेश उसी प्रकार व्यर्थ जाता है जैसे वेंत पर अमृत जल से सिञ्चन व्यर्थ होता है।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में निदर्शनालंकार तथा शार्दूलविक्रीडित छन्द है, जिसका लक्षण है—सूर्याश्वै र्मसजस्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्।

प्रसंग–मूढजनों को अपनी अज्ञता को छिपाने का एकमात्र उपाय वतलाता हुआ कवि कहता है—

स्वायत्त मेकान्तहितं[1] विधात्रा,
विनिर्मितं छादन मज्ञतायाः।
विशेषतः सर्वविदां समाजे,
विभूषणं मौन मपण्डितानाम् ॥७॥

अन्वय—विधात्रा अपण्डितानाम् अज्ञतायाः छादनम् स्वायत्तम् एकान्तहितम् मौनम् विनिर्मितम् (यच्च) विशेषतः सर्वविदाम् समाजे विभूषणम् (अस्ति)।

शब्दार्थ—विधात्रा=ब्रह्मा ने, अपण्डितानाम्=मूढ़जनों की, अज्ञतायाः=मूर्खता का, छादनम्=आच्छादन-ढक्कन, स्वायत्तम्=जो कि अपने ही अधीन हो, परोपदेश की अपेक्षा न रखता हो, एकान्तहितम्=अत्यन्त हितकारी, मौनम्=मौनावलम्बन को, विनिर्मितम्=वनाया है (जो कि) विशेषतः=विशेष रूप से, सर्वविदां समाजे=सर्वज्ञ जनों के समाज अर्थात् सभा में, विभूषणम्=शोभाकारी होता है।

अनुवाद—ब्रह्मा ने मूर्खजनों की मूर्खता का आच्छादन (ढकने वाला) स्वाधीनोपाय वाला तथा अवश्य हितकारी मौनावलम्बन बनाया है जो कि विशेष रूप से सर्वज्ञ विद्वानों की सभा में शोभाकारी होता है।

---

१. प्रस्तुत श्लोक में 'एकान्तहितम्' के स्थान पर 'एकान्तगुणम्' भी पाठान्तर है जिसका अर्थ है उत्तम एवं अनिवार्यतः गुणकारी।

भावार्थ—अपनी मूर्खता को छिपाने का एकमात्र उपाय चुप रहना है। अर्थात् मौनावलम्बन के समान मूर्खता के छिपाने का दूसरा उपाय नहीं है, यह उपाय भी ऐसा है जिसके लिये किसी के साहाय्य की आवश्यकता नहीं और यह सदा 'ही हित साधन करने वाला है। इस प्रकार यद्यपि सर्वत्र मौनावलम्बन मूर्खता का एकान्त हितकारी आच्छादन बनता है, तथापि बुध-जनों की सभा में तो यह उस मूर्ख व्यक्ति की शोभा को बढ़ाता है अर्थात् विद्वानों के समाज में मूर्खजन का मौनावलम्बन ही श्रेयस्कर होता है।

वस्तुतः मौन एक महान् गुण है, मौनावलम्बन से मनुष्य मिथ्या भाषण और परनिन्दा से बच जाता है। जब तक मनुष्य नहीं बोलता तब तक उसके दोष तथा उसकी मूर्खता छिपी रहती है, पर बोलते ही सब भेद खुल जाता है। कोयल और काक की पहचान केवल बोलने से ही होती हैं अन्यथा दोनों में अन्तर न ज्ञात हो सके। इसी दृष्टि से आचार्य चाणक्य ने कहा है --

मूर्खोऽपि शोभते तावत् सभायां वस्त्रवेष्टितः।
तावच्च शोभते मूर्खो यावत् किञ्चिन्न भाषते।।

कुछ अन्य विद्वानों की भी उक्तियाँ इस सम्बन्ध में स्मरणीय हैं—

"A fool when he is silent is wise."

"Silence is the safest course for the man who is diffident of himself.

' Silence is the wit of fools.

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में उपजाति नामक छन्द है जो कि इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा के मिश्रण से बनता है।

प्रसंग—किसी अनुभवी व्यक्ति के दूसरों के प्रति स्वानुभव प्रकट करने के ढंग का निर्देश करता हुआ कवि कहता है—

यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहं गज[1] इव मदान्धः समभवं,
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः।
यदा किञ्चित् किञ्चिद् बुधजनसकाशादवगतं,
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः।।८।।

---

१. कहीं अन्य पुस्तकों में गज इव के स्थान पर द्विप इव भी पाठान्तर है, पर अर्थ में कोई अन्तर नहीं है।

अन्वय—अहम् किञ्चिज्ज्ञः (सन्) यदा गजः इव मदान्धः समभवम् तदा सर्वज्ञः अस्मि इति मम मनः अवलिप्तम् अभवत्, यदा बुधजन सकाशात् किञ्चित् किञ्चित् अवगतम् तदा मूर्खः अस्मि इति मे मदः ज्वरः इव व्यपगतः।

शब्दार्थ—अहम्=मैं, किञ्चिज्ज्ञः=कुछ थोड़ा सा जानने वाला, (सन्=होकर), यदा=जब, गजः इव=हाथी की तरह, मदान्धः=घमण्ड से अन्धा-मद से कर्तव्याकर्तव्य विवेकशून्य, समभवम्=हो गया, तदा=तब, सर्वज्ञः अस्मि=सब कुछ जानने वाला हूँ, इति=इस प्रकार, मम मनः=मेरा मन, अवलिप्तम्=अतिगर्वित, अभवत्=हो गया, बुधजनसकाशात्=विद्वज्जन सामीप्य अर्थात् विद्वानों के मुख से, किञ्चित् किञ्चित् अवगमतम्=कुछ-कुछ (थोड़ा सा) जाना या समझा, मूर्खः अस्मि=मूर्ख हूँ, इति=इस प्रकार, मे मदः=मेरा घमण्ड, ज्वरः इव—बुखार की तरह, व्यपगतः=उतर गया या चला गया।

अनुवाद—मैं कुछ थोड़ा सा जानकार होकर जब हाथी की तरह घमण्ड से कर्तव्याकर्तव्य विवेक से रहित हो गया, तब "मैं तो सर्वज्ञ हूँ" यह समझकर मेरा मन अतिगर्वित हो गया परन्तु जब विद्वानों के सम्पर्क से कुछ-कुछ जाना या सीखा, तब 'मैं तो मूर्ख हूँ", इस प्रकार वह मेरा मद ज्वर की भाँति उतर गया।

भावार्थ—"अल्पविद्यो महागर्वी" थोड़ी सी विद्या वाला बड़ा घमण्डी होता है, इस कहावत के अनुसार मनुष्य जब कुछ थोड़ा सा जान लेता है तब वह मतवाले हाथी की तरह मदान्ध होकर कर्तव्य-अकर्तव्य के ज्ञान से शून्य होकर अपने को सर्वज्ञ मान बैठता है, परन्तु जब उसे विद्वानों का सम्पर्क प्राप्त होता है और वह उनसे कुछ थोड़ा सा वास्तविक ज्ञान प्राप्त कर पाता है तब वह अपने को निरा मूर्ख समझने लगता है और उसका वह घमण्ड जो कि उसके अल्पज्ञ होने से उत्पन्न हुआ था, उसी प्रकार दूर हो जाता है जिस प्रकार उत्तम औषधि प्राप्त करते ही बुखार उतर जाता है।

तात्पर्य यह कि जब तक मनुष्य विद्वज्जनों के सम्पर्क में नहीं आता, सद् ग्रन्थों का अध्ययन नहीं करता तब तक उसे ज्ञान नहीं होता, फलतः वह अपनी थोड़ी सी जानकारी के घमण्ड में अपने को सर्वज्ञ मान बैठता है। उसका यह अल्पज्ञान तथा इसका अज्ञानजन्य मद तभी दूर होता है जब वह

विद्वानों से कुछ सीखने का अवसर प्राप्त करता है। तभी उसे अपनी वास्तविकता का ज्ञान होता है। अल्पज्ञ की दशा कूप-मण्डूक जैसी ही होती है। कुयें का मेंढक तब तक कुयें के भीतर होने वाली वस्तुओं को ही संसार समझता रहता है, जब तक कि वह उससे बाहर आकर एक विशाल सरोवर में नहीं पहुँच जाता, यहाँ पहुँचने पर ही उसकी आँखें खुलती हैं और वह समझता है कि संसार कितना विशाल और अद्‌भुत है। किसी उर्दू के शायर ने ठीक ही कहा है—

हम जानते थे इल्म से कुछ जानेंगे
जाना तो यह जाना कि न कुछ भी।

वस्तुतः जो अपनी अज्ञानता को, अपनी त्रुटियों को जान लेता है, सदा सत्पुरुषों एवं विद्वानों की संगति में रहता है, वही सच्चा विद्वान् और गुणवान् बनता है। अल्पज्ञता मद का कारण होती है पर विद्वत्सम्पर्क विद्वत्तावाप्ति का कारण होता है।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में शिखरिणी नामक छन्द है जिसका लक्षण—'रसैरुद्रैश्छिन्ना यमन सभलागाः शिखरिणी' है।

प्रसंग—नीचजन जिस पदार्थ को स्वीकार कर लेता है, वह चाहे जितना भी तुच्छ और हेय क्यों न हो, पर वह उसकी तुच्छता पर ध्यान नहीं देता उसी बात को कुत्ते के दृष्टान्त द्वारा बतलाता हुआ कवि कहता है—

कृमिकुलचितं लालाक्लिन्नं विगन्धि[1] जुगुप्सितं
निरुपमरसप्रीत्या खादन् खरास्थि निरामिषम्
सुरपति मपि श्वा पार्श्वस्थं विलोक्य न शंकते,
न हि गणयति क्षुद्रो जन्तुः परिग्रहफल्गुताम् ॥६॥

अन्वय—कृमिकुलचितम् लालक्लिन्नम् विगन्धि जुगुप्सितम् निरामिषम् खरास्थि निरुपमरसप्रीत्या खादन् श्वा पार्श्वस्थम् सुरपतिम् अपि विलोक्य न शङ्कते, हि क्षुद्रः जन्तुः परिग्रहफल्गुताम् न गणयति।

---

१. प्रस्तुत श्लोक के 'विगन्धि' के स्थान पर "विगर्हि" भी पाठान्तर है, जिसका अर्थ है—निन्द्य। "खरास्थि" के स्थान पर 'नरास्थि' भी पाठांतर है जिसका अर्थ है—मनुष्य की हड्डी।

शब्दार्थ—कृमिकुलचितम्=कीड़ों के समूह से भरी हुई, लालाक्लिन्नम्=लार से गीली, विगन्धि=दुर्गन्ध युक्त, जुगुप्सितम्=निन्दनीय अथवा हेय, निरामिषम्=मांस से रहित, खरास्थि=गदहे की हड्डी को, निरुपमरसप्रीत्या=अनुपम स्वाद के आनन्द से, खादन्=खाता हुआ या चबाता हुआ, श्वा=कुत्ता, पार्श्वस्थम्=पास में खड़े हुये, सुरपतिम् अपि=इन्द्र को भी, विलोक्य=देखकर, न शङ्कते=शंका नहीं करता अर्थात् अपने घृणित कार्य पर लज्जित नहीं होता। हि=यतः क्योंकि, क्षुद्रः जन्तुः=नीच (तुच्छ) जीव, परिग्रहफल्गुताम्=अपने द्वारा स्वीकृत या गृहीत पदार्थ की तुच्छता को, न गणयति=नहीं गिनता है अर्थात् नहीं मानता है।

अनुवाद—कीड़ों से भरी हुई, लार से गीली, दुर्गन्धियुक्त अतएव निन्दनीय घृणित, मांस रहित गर्दभ की हड्डी को अनुपम स्वाद के आनन्द से चबाता हुआ कुत्ता पास में खड़े हुए देवाधिपति इन्द्र को देखकर भी लज्जित नहीं होता, ठीक ही है कि तुच्छ जीव अपनी स्वीकृत वस्तु की तुच्छता को कुछ नहीं गिनता।

भावार्थ—एक तो कीड़ों से भरी हुई, फिर भी अपने ही मुख से निकलने वाली लार से गीली, दुर्गन्धियुक्त होने से और भी घृणित, फिर भी मांस रहित सूखी स्वादरहित, फिर भी गदहे जैसे तुच्छ पशु की हड्डी चबाता हुआ और इसी में परम स्वाद का अनुभव करता हुआ कुत्ता इतना अधिक आनन्दमग्न हो जाता है कि यदि उस समय देवाधिपति इन्द्र भी उसके सामने खड़े हो जायं, तो भी वह अपने उस हड्डी चबाने के आनन्द को नहीं छोड़ सकता और न इतने घृणित कार्य को करता हुआ भी लज्जा का अनुभव कर सकता है। ठीक ही है कि नीच जन जिस किसी तुच्छ से तुच्छ, घृणित से घृणित वस्तु को अपना लेता है उसी में वह आनन्द का अनुभव करता है, उसे कदापि छोड़ नहीं सकता और न वह किसी की परवाह ही करता है।

वस्तुतः नीचों का स्वभाव कुत्तों जैसा होता है। जिस प्रकार कुत्ता बुरी से बुरी वस्तु को आनन्द से खाता है, उसी प्रकार नीच और स्वाथी मूढ़ जन बुरे से बुरे काम के द्वारा निन्द्य से निन्द्य उपायों के द्वारा जीविकोपार्जन कर पेट पालता है। नीच और स्वार्थियों का स्वभाव ही ऐसा होता है कि बुरे से बुरे काम करने में भी नहीं लजाते, जिस बुरी आदत को वे ग्रहण कर लेते

हैं उसे कभी नहीं छोड़ते, न वे लोकनिन्दा की चिन्ता करते हैं और न परलोक से भय खाते हैं।

विशेष—पार्श्वस्थम्—पार्श्व + स्था 'सुपि स्थ:' इति क प्रत्यय:। वहाँ अप्रस्तुत वृत्तान्त कथन से प्रस्तुत नीच जन की प्रतीति होती है, अत: अप्रस्तुत प्रशंसालंकार है "अप्रस्तुतस्य कथनात् प्रस्तुतं यत्र गम्यते। अप्रस्तुत प्रशंसेयं सारूप्यादिनियन्त्रिता"। प्रस्तुत श्लोक में हरिणी नामक छन्द है, जिसका लक्षण-न स म र स ला गा: षड्वेदै: हरिणी मता।

प्रसंग—अविवेकी पुरुष अनेक अनर्थों में पड़ता है अत: विवेक की आवश्यकता है, इसी आशय को प्रकट करता हुआ कवि कहता है—

शिर: शार्वं स्वर्गात् पशुपतिशिरस्त:[1] क्षितिधरं,
महीध्रा दुत्तुंगादवनिमवनेश्चापि जलधिम्।
अथो गंगा सेयं पदमुपगता स्तोकमथवा,
विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपात: शतमुख: ॥१०॥

अन्वय—(या) गंगा स्वर्गात् (प्रथमम्) शार्वम् शिर: (उपगता) (तदनु) पशुपतिशिरस्त: क्षितिधरम् (उपगता) उत्तुंगगात् महीध्रात् अवनिम् (उपगता) अवने: च अपि जलधिम् (उपगता) अथो सा इयम् स्तोकम् पदम् (उपगता) अथवा विवेकभ्रष्टानाम् शतमुख: विनिपात: भवति।

शब्दार्थ—(या जो यह) गंगा=गंगा नदी, स्वर्गात्—स्वर्ग से (प्रथमम्—पहले) शार्वं शिर:=शिवजी के मस्तक पर (उपगता—गिरी, प्राप्त हुई।) पशुपतिशिरस्त:=शिवजी के मस्तक से, क्षितिधरम्=पृथिवी को धारण करने वाले पर्वत अर्थात् हिमालय पर (गिरी) (तवनु—इसके वाद) उत्तुंगात् महीध्रात्=ऊंचे पर्वत अर्थात् हिमालय से, अवनिम्=पृथिवी पर, अवने: च अपि=और पृथिवी से भी, जलधिम्=समुद्र में (गिरी) अथो=अनन्तर—इसके वाद, सा इयम्=वह यह गंगा, स्तोकं पदम्—उपगता=स्वल्प स्थान

---

१. प्रस्तुत श्लोक में "पशुपतिशिरस्त:" के स्थान पर 'पतति शिरसस्तत्' पाठ है तथा 'अथो गंगा सेयम्' के स्थान पर 'अधोऽधो गंगेयम्' भी पाठान्तर है, पर अर्थ में कोई विशेष अन्तर नहीं है।

या परिमित स्थान को प्राप्त हुई। अथवा=तथाहि—इसी रूप में, विवेक भ्रष्टानाम्=विवेक से शून्य जनों का और स्वस्थान से भ्रष्ट हुए लोगों का शतमुख:=बहुत प्रकार का – अनेक विध, विनिपात:=अध: पतन, भवति= होता है।

अनुवाद—(जो यह) गंगा नदी स्वर्ग से (पहले) शिवजी के मस्तक पर गिरी, तदनु शिवजी के मस्तक से हिमालय पर्वत पर गिरी, (इसके बाद) ऊँचे पर्वत हिमालय से पृथिवी पर और पृथिवी पर से भी समुद्र में (गिरी) इसके अनन्तर वह यह गंगा परिमित स्थान को प्राप्त हुई अर्थात् स्वल्प हो गई। इसी प्रकार विवेक से शून्य जनों का (और स्वस्थान से भ्रष्ट हुए लोगों का) बहुविध अध:पतन होता है।

भावार्थ—गंगा जैसी पतित पावनी सुरनदी विवेकहीन होने के कारण अथवा स्वाभिमानवश पहिले तो विष्णु के चरणों में विलुप्त होकर शिवजी के मस्तक पर गिरती है, तदनु शिवजी के मस्तक से हिमालय पर और फिर पृथिवी पर। पृथिवी पर से भी समुद्र में गिर कर स्वयं अस्तित्वहीन ही हो जाती है। अर्थात् समुद्र में गिरने पर उसका नाम ही मिट जाता है। गंगा के सर्वोच्च स्थान से भ्रष्ट होकर अस्तित्व हीन हो जाने का कारण विवेकहीनता ही है। इसी प्रकार विवेक भ्रष्ट उत्तरोत्तर अध:पतन होते होते अन्त में सर्वथा नष्ट ही हो जाता है, अतएव अपनी अपनी उन्नति के लिए तथा अध: पतन से बचने के लिए मनुष्य को सदा विवेक या विचार शक्ति से काम लेना चाहिए। कर्त्तव्य के विचार से रहित होकर काम करते हैं, अनेक विध विपत्तियों में पड़ते हैं और अन्त में गंगा ही की तरह अस्तित्वहीन हो जाते हैं।

वस्तुत: विचारशक्ति ही हमारी सच्ची संरक्षिका और जीवन में सन्मार्ग प्रदर्शिका है, सभी को प्रत्येक काम करते समय इसी विचार शक्ति से काम लेना चाहिए। विचारहीन लोगों का अध: पतन निश्चित है इसके लिए पुराणों में निर्दिष्ट विष्णु, वलि, रावण, नहुष आदि के दृष्टान्त हमारे लिए निदर्शन हैं।

विशेष—यहाँ अनेक आधारों पर एक आधेय भूत गंगा की स्थिति का कथन होने से पर्याय नामक अलंकार है जैसा कि इसका लक्षण है—"क्रमे-

णैकमने कस्मिन्नाधारे वर्तते यदि, एकस्मिन्नथवानेकं पर्यायालंकृति र्मता"। शिखरिणी नामक छन्द है।

प्रसंग—अग्नि आदि के निवारण में तो शास्त्र प्रतिपादित जलादि हेतु मिलते हैं अर्थात् अग्न्यादि को तो जलादि से शान्त किया जा सकता है, पर मूढ़ता को दूर करने के लिए कोई भी शास्त्रविहित औषधि नहीं है, इसी आशय को प्रकट करता हुआ कवि कहता है—

शक्यो वारयितुं जलेन हुतभुक् शूर्पेण[1] सूर्यातपो,
नागेन्द्रो निशितांकुशेन समदो दण्डेन गोगर्दभः।
व्याधि र्भेषजसंग्रहैश्च विविध र्मन्त्रैः प्रयोगै र्विषं
सर्वस्यौषधमस्ति शास्त्रविहितं मूर्खस्य नास्त्यौषधम् ॥११॥

अन्वय—हुतभुक् जलेन वारयितुम् शक्यः, सूर्यातपः शूर्पेण (वारयितुम् शक्यः) समदः नागेन्द्रः निशिताङ्कुशेन, गोगदर्भः दण्डेन व्याधिः भेषजसंग्रहैः च, विषम् विविधैः मन्त्रैः विविधैः प्रयोगैः च (वारयितुम् शक्यम्, एवम्) सर्वस्य शास्त्रविहितम् औषधम् अस्ति (परम्) मूर्खस्य औषधम् नास्ति।

शब्दार्थ—हुतभुक्=अग्नि, जलेन वारयितुं शक्य=जल से बुझाया जा सकता या शान्त किया जा सकता है, शूर्पेण=सूप के द्वारा, सूर्यातप=सूर्य की धूप। समदः=मतवाला, नागेन्द्रः=गजराज, निशिताङ्कुशेन=तीक्ष्ण अङ्कुश से, गोगर्दभः=बैल और गदहा. दण्डेन=डण्डे के द्वारा, व्याधिः= शारीरिक रोग, भेषज संग्रहैः=विविध प्रकार की औषधियों के एकत्रित करने से, विषम=विष की, विविधैः मन्त्रैः प्रयोगैः च=और विविध प्रकार के गारुड़ आदि मन्त्रों से तथा साधनों से, सर्वस्व=सबके लिए, शास्त्रविहितम् =शास्त्रों में बतलाई गई, औषधम्=औषध, अस्ति=है, मूर्खस्य नास्ति औषधम्=मूर्ख के लिए कोई औषधि नहीं है।

अनुवाद—अग्नि को जल से शान्त किया जा सकता है, शूर्प से सूर्य की धूप से बचाया जा सकता है, मतवाले हाथी को तीक्ष्ण अंकुश से, तथा वृषभ

---

१. प्रस्तुत श्लोक के 'शूर्पेण' के स्थान पर 'छत्रेण' भी पाठ है, जिसका अर्थ है—छाता।

एवं गर्दभ को डण्डे से वश में किया जा सकता है, विविध प्रकार की औष-धियों से व्याधि को तथा विविध प्रकार के मन्त्रों एवं प्रयोगों से विष को दूर किया जा सकता है (इस प्रकार) सबके लिए (प्रायः) शास्त्रोक्त औषधियाँ हैं, परन्तु मूर्ख के लिए कोई औषधि नहीं है।

भावार्थ - सभी दाहक पदार्थों से बचने के लिए एवं हिंसक तथा उद्दण्ड जीवों को वश में करने के लिए शास्त्रों में अनेक उपाय बतलाये गये हैं, विविध प्रकार के भयानक रोगों के लिए तथा सर्प विष को भी उतारने के लिए अनेक मन्त्र और औषधि प्रयोग हैं, पर मूर्ख की मूढता दूर करने के लिए कोई भी उपाय नहीं है।

वस्तुतः जैसे कि एक अन्य कवि ने कहा है कि मूर्ख की मूढ़ता दूर करने में वह ब्रह्मा भी निरुपाय हो गया है जिसने चराचर जगत् सृष्टि की है और जिसने जगत् की रक्षा हेतु अनेक साधन उत्पन्न किये हैं "इत्थं तद् भुवि नास्ति यस्य विधिना नोपायचिन्ता कृता। मन्ये दुर्जन चित्तवृत्तिहरणे धातापि भग्नो-द्यमः।" अपने को बुद्धिमान समझने वाले दुराग्रही मूर्ख की मूढ़ता को ब्रह्मा भी दूर नहीं कर सकता तब मनुष्य की क्या सामर्थ्य है।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में शार्दूल विक्रीडित नामक छन्द है।

(अथ विद्वत्पद्धतिः)

प्रसंग—जिस राजा ने राज्य में विद्वज्जन निर्धन होकर जीवन यापन करते हैं उस राजा को मूर्ख समझना चाहिए, क्योंकि वह विद्वज्जनों की पद्धति को नहीं जानता है, इसी आशय से कवि कहता है—

शास्त्रोपस्कृतशब्दसुन्दरगिरः शिष्यप्रदेयागमा
विख्याताः कवयो वसन्ति विषये यस्य प्रभो निर्धनाः।
तज्जाड्यं वसुधाधिपस्य सुधियस्त्वर्थम् विनापीश्वराः।
कुत्स्याः स्यु कुपरीक्षकै र्न मणयो यैरर्घतः पातिताः ॥१२॥[1]

---

१. इस श्लोक के 'सुधियस्त्वर्थं विनापीश्वराः' के स्थान पर कवयो ह्यर्थं 'विनापीश्वराः भी पाठान्तर है, 'कुपरीक्षकैः' के स्थान पर 'कुपरीक्षका भी, पर अर्थ में विशेष अन्तर नहीं है।

अन्वय—शास्त्रोपस्कृतशब्दसुन्दरगिरः, शिष्यप्रदेयागमाः विख्याताः कवयः निर्धनाः (सन्तः) यस्य प्रभो विषये वसन्ति (तस्य) वसुधाधिपस्य (एव) तत् जाड्यम् । सुधियः तु अर्थम् विना अपि ईश्वराः, यैः कुपरीक्षकैः मणयः अर्धतः पातिताः (ते एव कुपरीक्षकाः कुत्स्याश्च) न मणयाः कुत्स्याः स्युः ।

शब्दार्थ—शास्त्रोपस्कृत शब्द सुन्दरगिरः=जिनकी वाणी शास्त्रों में अलंकृत एवं शब्द अर्थात् पाणिनीय व्याकरण से मनोहर हैं, शिष्यप्रदेयागमाः= जिनके आगम अर्थात् शास्त्र शिष्यों के लिए विनियोगार्ह अर्थात् व्याख्यान रूप से देने योग्य हैं, अर्थात् जो शास्त्र को अपने शिष्यों को पढ़ाने की योग्यता रखते हैं। अतएव विख्याताः=जो सर्वत्र प्रसिद्ध हैं, (ऐसे) कवयः=कविजन, निर्धनाः (सन्तः) निर्धन होकर, यस्य प्रभोः विषये वसन्ति=जिस राजा के राज्य में अथवा सान्निध्य में रहते हैं। वासुधाधिपस्य तज्जाड्यम्=उस राजा की ही यह मूढ़ता है, सुधियः तु=विद्वज्जन तो, अर्थं विनापि ईश्वराः— धन के विना भी समर्थ अर्थात् पूज्य होते हैं। यैः कुपरीक्षकैः=जिन कुत्सित परीक्षकों के द्वारा मणयः=मणि आदि रत्न, अर्घतः पातिताः=मूल्य से घटा दिये गये हैं अर्थात् उनका मूल्य कम कर दिया गया है। (वस्तुतः वे रत्न पारखी कुत्सित हैं) मणि कुत्सित एवं मूल्य रहित नहीं हैं।

अनुवाद जिनकी वाणी शास्त्रों से अलंकृत एवं व्याकरण से शुद्ध मनोहर है, तथा जिनके शास्त्र शिष्यों के लिये व्याख्यान रूप से या अध्यापन रूप से देय है, अतएव जो प्रसिद्ध हैं, ऐसे कविजन निर्धन होकर जिस राजा के राज्य में रहते हैं, उस राजा की ही (इसमें) यह मूढता है, विद्वज्जन तो धन विना भी सामर्थ्यवान् एवं श्रेष्ठ होते हैं। यदि कुत्सित रत्न पारखियों द्वारा मणियाँ (उनके अपने उचित) मूल्य से घटा दी गई हैं तो वे रत्नपारखी ही इस विषय में कुत्सित या कुपरीक्षक होंगे, मणियाँ कुत्सित एवं निन्द्य न होंगी।

भावार्थ—विद्वज्जन प्रायः राजाश्रय में ही रहते हैं, अतः वे राजाओं द्वारा सम्मान्य हैं "सदा श्रयेण शोभन्ते पण्डिता वनिता लताः।" कविजनों की वाणी विविध शास्त्रों एवं व्याकरण से शुद्ध परिनिष्ठित होती है, वे अपने शिष्यों को भी शास्त्रों को पढ़ाने की योग्यता रखते हैं अतएव वे सर्वत्र प्रसिद्धि प्राप्त करते हैं। ऐसे भी कविजन जिस राजा के राज्य में निर्धन होकर रहते हैं, तो वह राजा ही निन्द्य है जो कि विद्वानों को उचित आदर नहीं देता।

निर्धन होने के कारण विद्वान् कभी विगर्ह्य नहीं होते अपितु धन के बिना भी आदरास्पद होते हैं। विद्वानों के निर्धन रहने में राजा की ही मूढ़ता प्रकट होती है और वह निन्द्य होता है विद्वान् नहीं। जैसे यदि कोई रत्न पारखी मूल्यांकन करते समय मणि का मूल्य घटाकर बतलाता है तो इससे मणि मूल्य रहित एवं कुत्सित न होगा अपितु वे रत्न पारखी ही कुत्सित कहे जायेंगे जिन्होंने मणि का उचित मूल्य नहीं आँका है। अर्थात मूल्य घटाने वाला ही अनाड़ी कहा जायेगा, मणि नहीं, उसका तो जितना मूल्य हैं उतना ही सदा बना रहेगा।

वस्तुत: विद्वान् ही विद्वान् का आदर कर सकता है, मूर्ख नहीं। यदि राजा विद्वानों का आदर नहीं करता और उनका धनाभाव दूर नहीं करता तो उसे राजा को मूर्ख ही समझना चाहिये। यदि वह विद्वान् होता को वह विद्वानों का अवश्य आदर करता। राजा द्वारा आदृत न होने पर भी विद्वानों की विद्वत्ता घट नहीं जाती किन्तु इससे राजा की ही अज्ञता प्रकट होती है। यदि कोई मूर्ख हीरे को पाकर उसे पत्थर समझकर फेंक दे, जैसे कोल भील गज मुक्ताओं को पाकर भी फेंक देते है तो इससे हीरे का मूल्य घट नहीं जाता अपितु उसे फेंक देने वाले मूर्ख की ही इससे मूढ़ता प्रकट होती है। यही बात राजा और कविजनों के विषय में समझनी चाहिये।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में शार्दूल विक्रीडित छन्द है।

प्रसंग—साधारण धन की अपेक्षा विद्या धन का विशेष महत्व प्रतिपादित करता हुआ कवि राजाओं और धनियों को उद्बोधित करता हुआ कहता है कि उन्हें ईर्ष्या रहित होकर विद्वज्जनों का आदर करना चाहिए—

हर्तुर्याति न गोचरं किमपि शं पुष्णाति यत्सर्वदा,
त्यर्थिभ्य: प्रतिपाद्यमान मनिशं प्राप्नोति, वृद्धि, पराम्।
कल्पान्तेष्वपि न प्रयाति निधनं विद्याख्यमन्तर्धनं
येषां तान् प्रति मानमुज्झत नृपा: ! कस्तै: सह स्पर्धते ॥१३॥

अन्वय—(यद् विद्याख्यं धनम्) हर्तु: गोचरम् न याति, (यत् च) सर्वदा अपि किमपि शं पुष्णाति, अनिशम् अर्थिभ्य: प्रतिपाद्यमानम् (सत्) पराम् वृद्धिम प्राप्नोति, कल्परान्तेषु अपि निधनम् न प्रयाति, नत् विद्याख्याम् अन्तर्धनम येपाम (अस्ति) तान् प्रति हे नृपा: मानम् उज्जझत, तै:सह क: स्पर्धते।

शब्दार्थ— (यद विद्याख्यं धनम=जो विद्या नामक धन), हर्तुः=चुराने वाले के गोचरं न याति=दृष्टिगोचर नहीं होता, यत्=जो कि सर्वदा अपि =तीनों कालों में भी, किमपि शम=कोई अनिर्वचनीय सुख, पुष्णाति= वढ़ता है। अनिशम्=रात दिन, अर्थिभ्यः=याचना करके वाले विद्यार्थियों के लिये (अध्यापन द्वारा), प्रतिपाद्यमानम् सत=दिया जाता हुआ होकर, परां वृद्धि प्राप्नोति=उत्कृष्ट अभ्युदय को प्राप्त होता है, कल्पान्तेषु अपि= प्रलय समय में भी (जो) निधनं न प्रयाति=नाश को प्राप्त नहीं होता है। तद् विद्याख्यम् अन्तर्धनम=वह विद्यारूप अन्तरस्थ अर्थात् हृदयस्थ धन, येषामस्ति=जिनके पास है, तान् पति=उनके प्रति, हे नृपाः=राजाओं। मानम् उज्झत=दुराग्रह छोड़ दो, तैः सह=उनके साथ, कः स्पर्धते=कौन ईर्ष्या करता है अर्थात् कोई नहीं।

अनुवाद—जो विद्या रूप धनहरण करने वाले के दृष्टिगोचर नहीं होता और जो कि सदा ही कोई अनिर्वचनीय सुख बढ़ाता है, जो कि रात दिन विद्यार्थियों के लिए दिया जाता हुआ होकर भी उत्कृष्ट अभ्युदय को प्राप्त होता है, जो कि प्रलयकाल में भी नष्ट नहीं होता, वह विद्यारूप हृदयस्थ धन जिनके पास है, उनके प्रति हे राजाओ ! दुराग्रह छोड़ दो, उनके साथ कौन स्पर्धा करता है, अर्थात् कोई नहीं।

भावार्थ—जो राजा या धनीजन अपने धन-वैभव के कारण विद्यावान् जनों के सामने घमण्ड करते हैं और विद्वानों को तुच्छ समझते हैं, उनका मान-मर्दन करने के लिए कवि का कथन है कि इन विद्वानों के पास भी एक ऐसा विद्यारूपी गुप्त धन है, जो चोर को भी दिखलाई नहीं पड़ता और जो सदा कल्याणकारी होता है, यह विद्यारूप अन्तर्धन सदा छात्रों के लिए अध्यापन द्वारा दीयमान होकर भी उत्कृष्ट अभ्युदय का साधक होता है, कल्पान्त में भी इसका नाश नहीं होता, अतः इसके प्रति घमण्ड या दुराग्रह न करना चाहिए अपितु इनका आदर करना चाहिए। कौन ऐसा मूर्ख होगा जो इस प्रकार के विद्याधन के धनी विद्वानों के साथ स्पर्धा करेगा, अर्थात् कोई नहीं।

किसी कवि ने विद्या धन की प्रशंसा में ऐसा ही कहा है—

"न भोगहार्या न च बन्धुहार्या न भ्रातृहार्या न च राजहार्या।
स्वदेशमित्र परदेशबन्धु विद्यासुधां ये पुरुषाः पिबन्ति ॥"

वस्तुतः विद्यारूपी अन्तर्धन अक्षय होता है, धनियों का साधारण प्रत्यक्ष और क्षण भंगुर धन इस धन की समता कदापि नहीं कर सकता। जो धनी विद्वानों के पास इस अक्षय सम्पत्ति के होते हुए भी, उनका अनादर करते हैं, वे मूर्ख या नासमझ ही हैं।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में उपमान भूत प्रसिद्ध धन की अपेक्षा उपमेयभूत विद्या धन का आधिक्य कथन होने से व्यतिरेकालंकार है—"उपमानाद्यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः"। शार्दूल विक्रीडित छन्द है।

प्रसंग—नृपति जनों को उद्बोधित करता हुआ कवि कहता है कि तुम्हारी तृणवत् तुच्छ लक्ष्मी विद्वज्जनों को नहीं रोक सकती, अतः उनका अपमान मत करो—

अधिगतपरमार्थान् पण्डितान् मावमंस्था
स्तृणमिव लघु लक्ष्मी नैव तान् संरुणद्धि।
अभिनवमदरेखाश्यामगण्डस्थलानां,
न भवति विसतन्तु वरिणं वारणानाम् ॥१४॥

अन्वय—अधिगतपरमार्थान् पण्डितान् मा अवमंस्थाः, तृणम् इव लघु लक्ष्मीः तान् नैव संरुणद्धि, अभिनवमदरेखाश्यामगण्डस्थलानां वारणानां विसतन्तुः वारणं न भवति।

शब्दार्थ—अधिगतपरमार्थान्=परमार्थ तत्व को जानने वाले, पण्डितान्=विद्वानों का, मा अवमंस्थाः=अनादर मत करो। तृणमिव लघु=तिनके के समान तुच्छ, लक्ष्मीः=सम्पत्ति, तान् नैव संरुणद्धि=उनको नहीं रोक सकती। अभिनवमदरेखाश्यामगण्डस्थलानाम्=सर्वथा नवीन मद धाराओं से जनके गण्डस्थल श्याम वर्ण के हो गये हैं। वारणानां=(ऐसे) मदमत्त गजराजों को, विसतन्तुः=कमलदण्ड का सूत्र, वारणं न भवति=प्रतिबन्धक अर्थात् रोकने वाला नहीं होता।

अनुवाद—(राजाओं को उद्बोधित करता हुआ कवि कहता है) कि परमार्थ तत्व को जानने वाले विद्वानों का अपमान मत करो, तिनके के समान तुच्छ (तुम्हारी) लक्ष्मी उनको नहीं रोक सकती अर्थात् उन्हें वशवर्ती नहीं बना सकती। अभिनव मद की धाराओं से जिनके गण्ड स्थल श्यामवर्ण के हो गये हैं (ऐसे मतवाले) गजराजों से लिए कमलदण्ड का तन्तु वारण अर्थात् प्रतिबन्धक नहीं होता अर्थात् विसतन्तु से मतवाले गजराज नहीं बाँधे जा सकते।

भावार्थ—जिस प्रकार विसतन्तु से मदमत्त मदस्रावी गजराज नहीं बाँधे जा सकते उसी प्रकार तिनके जैसी तुच्छ तुम्हारी सम्पत्ति विद्वानों को वश-वर्ती नहीं वना सकती, अतः परमार्थ ज्ञानी विद्वानों का अपमान मत करो।

वस्तुतः जिन विद्वानों को आत्मत्व या ब्रह्म का ज्ञान हो जाता है, वे सदा ही आत्मरत रहते हैं। संसार का वैभव तो क्या, त्रिलोक का ऐश्वर्य भी उन्हें तुच्छ लगने लगता है, अतः वे न राजाओं की और न धनियों की ही अपेक्षा करते हैं, अपितु अपनी आत्मरति में ही सदा परम सुख का अनुभव करते हैं। कवि का उद्बोधन है कि ऐसे विद्वानों का अपमान न करना चाहिए। संसार का वैभव उन्हें कदापि न आकृष्ट नहीं कर सकता।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में दो वाक्यों के वीच विम्व प्रति विम्व भाव होने से तथा दोनों का समान धर्म होने से दृष्टान्त अलंकार है, एवं मालिनी नामक छन्द है—जिसका लक्षण—'न न म य य युतेयं मालिनी भोगिलोकैः' है।

प्रसंग विद्वज्जनों की विदग्धता (विद्वता) का अपहरण विधाता भी नहीं कर सकता, इसी बात को हंस के दृष्टान्त द्वारा वतलाता हुआ कवि कहता है—

अम्भोजिनीवनविहारविलास मेव,
हंसस्य हन्ति नितरां कुपितो विधाता।
न त्वस्य दुग्धजलभेदविधौ प्रसिद्धां,
वैदग्ध्यकीर्तिमपहर्तुमसौ समर्थः॥१५॥

अन्वय - विधाता कुपितः सन् हंसस्य अम्भोजिनीवनविहारविलासम् एवं नितराम् हन्ति। तु असौ अस्य दुग्धजलभेदविधौ प्रसिद्धाम् वैदग्ध्यकीर्तिम् अपहर्तुम् न समर्थ।

शब्दार्थ—विधाता=ब्रह्मा, कुपित सन्=अधिक क्रुद्ध होकर, हंसस्य=हंस के, अम्भोजिनीवनविहारविलासम् एव=कमलिनी वन में क्रीड़ा रूप लीला को ही, नितरां हन्ति=विल्कुल नष्ट कर सकता है। तु=किन्तु, असौ=वह ब्रह्मा, अस्य=इस हंस की, दुग्धजलभेदविधौ=दूध और जल को पृथक-पृथक करने की विधि में, प्रसिद्धाम्=प्रसिद्ध, वैदग्ध्य कीर्तिम्=कुशलता के यश को, अपहर्तुम्=मिटा देने के लिए, न समर्थः=समर्थ नहीं है।

अनुवाद -- ब्रह्मा क्रुद्ध होकर हंस की कमलिनीवन में क्रीड़ा रूप लीला को ही विल्कुल नष्ट कर सकता है, किन्तु वह इस हंस की दूध और जल को

पृथक-पृथक करने की विधि में सुप्रसिद्ध कुशलता की कीर्ति का अपहरण करने के लिए समर्थ नहीं है।

भावार्थ—ब्रह्मा का वाहन हंस है और कमल उनका आसन है। यदि किसी कारणवश ब्रह्मा हंस से क्रुद्ध हो जाय तो वह अधिक से अधिक उसके कमलिनी वनों में विहार करने को और विविध प्रकार के विलास करने को ही विल्कुल रोक सकता है, इससे अधिक नहीं। क्रुद्ध हुए ब्रह्मा का इतना ही सामंर्थ्य है कि वह कमलों को सुखाकर वहाँ हंस का स्वच्छन्दता-पूर्वक विहार करना वन्द कर दे, परन्तु हंस में जो दूध और जल को पृथक-पृथक कर देने की प्रसिद्ध कुशलता का एक अपूर्व गुण है जिससे उसकी सर्वत्र प्रसिद्धि एवं अक्षय कीर्ति है, उसको अपहरण करने में वह कदापि समर्थ नहीं है। यह प्रसिद्ध है कि हंस मिश्रित दूध और जल से दूध पी लेता है और जल छोड़ देता है। इसी प्रकार यदि ऐश्वर्य शाली राजा आदि विद्वज्जनों से असन्तुप्ट हो जाय तो वह अधिक से अधिक उस विद्वान का अपने राज्य में रहना और उसकी राज्य से मिलने वाली जीविका मात्र को ही वन्द कर सकता है, उसे राज्य से वाहर निकाल सकता है, पर विद्वान में जो सकल शास्त्रों का ज्ञान है जिससे उसकी विद्वता की सर्वत्र प्रशंसा होती है जिससे उसकी कीर्ति फैलती है उसे रोकने के लिए वह कदापि समर्थ नहीं हो सकता। अतएव प्रभुजनों को विद्वान का आदर न करना चाहिए अपितु उनका सर्वदा सम्मान ही करना चाहिए। मनुष्य के वाहरी साधनों को ही कोई नष्ट कर सकता है पर उसमें जो दया उदारता, सहानुभूति, वीरता, विद्वता आदि भीतरी गुण होते हैं उन्हें कोई नष्ट नहीं कर सकता। राजा का तो आदर उसकी ऐश्वर्यशालिता वश उसके राज्य में ही होता है पर विद्वान तो अपनी विद्वत्ता से सर्वत्र देश और विदेश में भी पूजित है "स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान सर्वत्र पूज्यते" अत धनी जनों को विद्वान का आदर ही करना चाहिए।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में अपकृत विधाता और हंस का वृत्तान्त कथन करने से प्रस्तुत राजा और विद्वज्जन की प्रतीति होने से अप्रस्तुत प्रशंसालंकार वसन्त तिलका नामक छन्द है, जिसका लक्षण—'उक्त वसन्त तिलक त भजा जगौग" है।

प्रसंग—विद्वानों की विद्या ही भूषण रूप सम्पत्ति है जिसके आगे सभी लौकिक आभूषण क्षीण हो जाते हैं, इसी आशय को प्रकट करता हुआ कवि कहता है—

केयूरा न विभूषयन्ति पुरुषं हारा न चन्द्रोज्ज्वलाः,
न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं नालंकृता मूर्धजाः ।
वाण्येका समलंकरोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते,
क्षीयन्तेऽखिल[1] भूषणनि सततं वाग्भूषणम् भूषणम् ॥१६॥

अन्वय—केयूराः पुरुषं न भूषयन्ति, न चन्द्रोज्ज्वलाः हाराः, न स्नानम् न विलेपनम्, न कुसुमम्, न (अपि) अलंकृताः मूर्धजाः (पुरुषं भूषयन्ति) । (किन्तु) एका वाणी एव पुरुषम् समलंकरोति या संस्कृता (सती) धार्यते, अखिल-भूषणानि क्षीयन्ते, वाग्भूषणम् सततं भूषणम् (अस्ति) ।

शब्दार्थ—केयूराः=आभूषण विशेष जो कि भुजाओं पर और कुत्रचित् शिर पर भी धारण किये जाते है । पुरुषं न भूषयन्ति=पुरुष की शोभा नहीं बढ़ाते, न चन्द्रोज्ज्वलाः हाराः=चन्द्रमा के समान उज्ज्वल अधिक चमकीले हार, मुक्ताहार भी नहीं, न स्नानम्=शरीर की स्वच्छता के लिए किया जाने वाला स्नान, न विलेपनम्=कपूर कस्तूरी आदि से सुगन्धित अंगराग, न कुसुमम्=मालती चमेली आदि का पुष्प, न अलंकृताः मूर्धजाः=और न पुष्पमालादि से प्रसाधित केश ही (पुरुष की शोभा हैं) । एका वाणी एव=केवल एक वाणी ही, पुरुषं समलंकरोति=पुरुष को सुशोभित करती है, या=जो कि वाणी, संस्कृता=व्याकरणादि से परिशुद्ध हुई, धार्यते=धारण की जाती है । अखिल भूषणानि=सम्पूर्ण अन्य आभूषण, क्षीयन्ते=कालक्रम से नष्ट हो जाते हैं, वाग्भूषणं सततं भूषणम्=संस्कृतवाक् रूप भूषण तो नित्य भूषण ही होता है ।

अनुवाद—केयूर पुरुष की शोभा नहीं बढ़ाते, और न चन्द्रवत् उज्ज्वल हार, न स्नान, न विलेपन और न पुरुष तथा प्रसाधित केश ही (पुरुष की शोभा बढ़ाते हैं) केवल एक वाणी ही जो व्याकरणादि से परिशुद्ध कर धारण की जाती है पुरुष की शोभा बढ़ाती है । सम्पूर्ण अन्य आभूषण काल क्रमा-

---

१. क्षीयन्तेऽखिल के स्थान पर क्षीयन्ते खलु भी पाठ है, वहाँ इसे वाक्यालंकार में समझना चाहिये ।

नुसार नष्ट हो जाते हैं, संस्कृत वाणी रूप आभूषण ही नित्य स्थायी आभूषण होता है।

भावार्थ—और सब आभूषण वस्तुतः नाशवान् है, धनाद्यैश्यर्य के नष्ट होते ही नष्ट हो जाते हैं, किन्तु संस्कृत वाणी रूपी भूषण सदा बना रहता है। अतः लौकिक स्वर्ण रत्नादि से निर्मित आभूषण वाणी रूपी भूषण की समता नहीं कर सकते, यही सर्वोत्तम एवं स्थार्या भूषण है।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में व्यतिरेकालंकार है और शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

प्रसंग—विद्या के गुणों के प्रशंसा करता हुआ कवि कहता है—

विद्या नाम नरस्य रूप मधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनं,
विद्या भोगकारी यशःसुखकरी विद्या गुरूणां गुरुः।
विद्या बन्धुजनो विदेशगमने विद्या परं दैवतं,
विद्या राजसु पूज्यते न हिधनं विद्या विहीनः पशुः ॥१७॥

अन्वय—विद्या नरस्य अधिकम् रूपम्, (विद्यैव) प्रच्छन्नगुप्तं धनम्। विद्या भोगकारी यशः सुखकरी विद्या गुरुणां गुरुः। विद्या विदेशगमने बन्धुजन विद्या परं दैवतम्, विद्या राजसु पूज्यते, नहि धनम्, विद्याविहीनः पशुः (अस्ति)।

शब्दार्थ—विद्या नाम=वेदशास्त्रादि परिनिष्ठित विद्या ही, नरस्य अधिकं रूपम्=मनुष्य का महान् स्वरूप है, प्रच्छन्नगुप्तं धनम्=(विद्या ही) निगूढ़ रक्षित धन है। विद्या भोगकारी यशः सुखकारी-विद्या ही स्रक्, चन्दन वानितादि सांसारिक भोगों को देने वाली तथा कीर्ति एवं सुख देने वाली है, विद्या गुरूणां गुरुः=विद्या ही हिताहित का उपदेश देने वाले आचार्यों की भी गुरु अर्थात् उपदेशदात्री है अर्थात् गुरुजनों से भी श्रेष्ठ है। विदेशगमने विद्या बन्धुजनः—विदेशवास काल में विद्या बन्धुजन सदृश सहायक है। विद्या परं दैवतम्=विद्या मोक्षदात्री होने के कारण परमात्म स्वरूप अथवा स्वाभीष्ट देवता स्वरूप है। (कहीं-कहीं 'परा देवता' भी पाठ है वहाँ भी यही अर्थ है, केवल लिंगभेद है) विद्य राजसु पूज्यते नहि धनम्=विद्या राजाओं में पूजित होती है धन नहीं, विद्याविहीनः पशुः=विद्या से रहित व्यक्ति केवल पशु है।

अनुवाद—विद्या मनुष्य का श्रेष्ठ और सच्चा स्वरूप है। (विद्या) निगूढ़ सुरक्षित सम्पत्ति है। विद्या ऐहिक भोगों को देने वाली तथा कीर्ति और सुख को देने वाली है। विद्या शास्त्र पारंगत गुरुजनों की भी उपदेशदात्री है। विद्या प्रवास काल में बन्धुजन सदृश साहाय्यसाधिका है। (मोक्षदायिनी होने के कारण) विद्या परमात्मा स्वरूपिणी है। राजाओं में विद्या ही पूजित होती है धन नहीं, (अतएव) विद्याविहीन मनुष्य पशु ही है।

भावार्थ—विद्या से ही मनुष्य की सर्वोत्तम शोभा होती है। विद्या रूपी धन सदा मानव हृदय में रहने वाला होने से निगूढ़ स्थायी एवं पूर्णतया सुरक्षित रहता है। विद्या से ही मनुष्य को विविध प्रकार के ऐहिक भोग विलास, कीर्ति और सुख मिलते हैं। विद्या गुरुजनों से भी श्रेष्ठ है, क्योंकि गुरुजन भी तो विद्या के ही सहारे दूसरों को उपदेश देते हैं। विदेश में केवल विद्या ही अपनी सहायिका होती है, विद्यावल से मनुष्य विदेश में भी आदर भाजन बनता है। इतना ही नहीं विद्या से मुक्ति भी मिल सकती है इसीलिए विद्या मोक्ष के लिये उपास्य परमात्म स्वरूप है। राजाओं या राजसभाओं में धन का नहीं अपितु विद्या का ही आदर होता है। जव विद्या का इतना बड़ा महत्व है तो विद्या से रहित मनुष्य निरा पशु ही है।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में विद्या का रूप धन आदि विविध प्रकार से निरूपण किया गया है अतः निरवयव माला रूपक अलंकार तथा शार्दूल विक्रीडित छन्द है।

प्रसंग—लोक के हिताहित वर्णन प्रसंग से उसी विद्या का अन्य गुणों के साथ महत्त्व प्रदर्शित करता हुआ कवि कहता है—

क्षान्तिश्चेत् कवचेन किं किमरिभिः क्रोधोऽस्ति चेद् देहिनां,
ज्ञातिश्चेदनलेन किं यदि सुहृद दिव्योषधैः किं फलम् ।
किं सर्पैं र्यदि दुर्जनाः किमु धनै र्विद्यानवद्या यदि,
व्रीडा चेत् किमु भूषणैः सुकविता यद्यस्ति राज्येन किम् ॥१८॥

अन्वय—देहिनाम् क्षान्ति अस्ति चेत् (तर्हि) कवचेन किम्, क्रोधः (अस्ति) चेत् (तर्हि) अरिभिः किम्, ज्ञातिः (अस्ति) चेत् (तर्हि) अनलेन किम्, सुहृद (अस्ति) यदि (तर्हि) दिव्यौषधैः किम् फलम्, दुर्जनाः (सन्ति) यदि सर्पैः किम्, अनवद्या विद्या (अस्ति) यदि धनैः किम्, व्रीडा (अस्ति) चेत् (तर्हि) भूषणैः किम्, सुकविता अस्ति यदि (तर्हि) राज्येन किम्।

शब्दार्थ—देहिनाम्=प्राणियों के पास, क्षान्तिः अस्ति चेत्=परिभवादि से उत्पन्न क्रोध प्रतिबन्धक क्षमा यदि है, कवचेन किम्=तो कवच से क्या प्रयोजन ? अर्थात् कवच व्यर्थ है क्रोधादि जन्य प्रहारादि से संरक्षण के लिये क्षमा ही सबसे उत्तम कवच है। क्रोधः अस्ति चेत् अरिभिः किम्=यदि क्रोध है तो शत्रुओं से क्या प्रयोजन ? अर्थात् क्रोध ही सबसे बड़ा शत्रु है, क्रोध ही सबसे बड़ा अन्तः शत्रु और सब प्रकार के उपद्रवों का कारण होता है। ज्ञातिः चेत् अनलेन किम्=दायाद कुटुम्बी पैतृक सम्पत्ति के संविभाग के अधिकारी यदि है तो अग्नि से क्या लाभ ? अर्थात् कुछ नहीं, क्योंकि दायाद ही सम्पूर्ण धन को सविभक्त कर निर्मूल, एवं नष्ट कर देने के लिये पर्याप्त हैं। सुहृद् यदि दिव्यौषधैः किं फलम्=यदि सन्मित्र है तो सिद्ध औषधियों से क्या अर्थात् कोई प्रयोजन नहीं, क्योंकि सुहृद ही सबसे बड़ा आरोग्यकर तथा विपत्ति में सहायक होता है। यदि दुर्जनाः सर्पैः किमु=यदि खल जन है तो सर्पों से क्या अर्थात् कोइ प्रयोजन नहीं, क्योंकि खलजन ही सबसे अधिक प्राणापहारक होते हैं। अनवद्या विद्या यदि धनैः किमु=निर्दोष विद्या यदि है तो धन से क्या अर्थात् कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि दोष रहित विद्या ही सम्पूर्ण भोगों की साधिका होती है। व्रीड़ा चेत् भूषणैः किमु=यदि अकार्य प्रवृत्ति में मनः संकोच रूप लज्जा है तो आभूषणों से क्या अर्थात् कोई फल नहीं, क्योंकि लज्जा ही लोकोत्तर आभूषण है। सुकविता यदि अस्ति राज्येन किम्=सत्पाण्डित्य एवं सुकवित्व यदि है तो राज्य से क्या अर्थात् कोई प्रयोजन नहीं, क्योंकि सुकविता ही सकल लोक वशीकरण का हेतु है।

अनुवाद—प्राणियों के पास यदि क्षमा है तो कवच की आवश्यकता नहीं, (क्योंकि क्षमा ही सबसे बड़ा संरक्षण का साधन है।) यदि क्रोध है तो शत्रुओं की आवश्यकता नहीं (क्योंकि क्रोध ही सबसे प्रबल अन्तः शत्रु है।) यदि दायाद हैं तो अग्नि की आवश्यकता नहीं (क्योंकि ज्ञाति सर्वविध सम्पत्ति को निर्मूल कर देने के लिये पर्याप्त है।) यदि सन्मित्र हैं तो सिद्ध औषधियों की आवश्यकता नहीं, (क्योंकि सुमित्र सब प्रकार की विपत्तियों, एवं व्याधियों से बचाने में समर्थ होता है)। यदि खलजन हैं तो सर्पों की आवश्यकता नहीं (क्योंकि खलजन ही सबसे अधिक प्राणापहारक होते हैं)। यदि निर्दोष विद्या है तो धन की आवश्यकता नहीं, (क्योंकि सुविद्या सब प्रकार के अभ्युदय एवं निःश्रेयस की साधिका होती है)। यदि व्रीड़ा है तो आभूषणों की आवश्यकता

नहीं (क्योंकि लज्जा ही सबसे उत्तम भूषण है), यदि सुकविता है तो राज्य से क्या (क्योंकि सुकविता ही सभी लोगों को वश में करने के लिये और फलतः धनावाप्ति के लिये परम साधन है)।

भावार्थ—वस्तुतः जिस मनुष्य में क्षमारूप उत्तम गुण है, उसे अपनी रक्षा की चिन्ता ही न करनी चाहिये और इसके विपरीत यदि उसमें क्रोध है तो उसे अपने ही अन्दर शत्रु का अभाव नहीं है, क्रोध से बढ़कर कोई शत्रु नहीं होता। दायाद सभी सम्पत्ति के विनाशक होते हैं, यदि मनुष्य के इस प्रकार के ज्ञातिजन है तो उसे सम्पत्ति विनाश के लिये अग्नि की आवश्यकता न होगी। सन्मित्र सभी विपत्तियों का निवारक होता है, अतः सन्मित्र वाले व्यक्ति को अन्य रोगनाशक औषधियों की आवश्यकता नहीं होती। खलजन सर्पों से भी अधिक घातक होते हैं, अतः जहाँ खलजन हों वहाँ सर्पों की आवश्यकता नहीं। यदि मनुष्य के पास निर्दोष विद्या है तो अन्य धन की कोई आवश्यकता नहीं, इसी प्रकार लज्जा रूपी भूषण के रहते अन्य भूषणों की आवश्यकता नहीं रहती। सुकविता यदि है तो राज्य की आवश्यकता नहीं, क्योंकि सुकवित्व सभी को वशवद बनाकर धन का साधक होता है।

विशेष—यहाँ शार्दूल विक्रीडित छन्द है।

प्रसंग—लोक व्यवहार में साफल्य प्राप्ति के लिये कुछ गुणों की आवश्यकता होती है, इन्हीं का निर्देश करता हुआ कवि कहता है—

> **दाक्षिण्यं स्वजने दया परिजने शाठ्यं सदा दुर्जने,**
> **प्रीतिः साधुजने नयो नृपजने विद्वज्जने चार्जवम्।**
> **शौर्यं शत्रुजने क्षमा गुरुजने कान्ताजने धृष्ठता,**
> **ये चैवं पुरुषाः कलासु कुशलास्तेष्वेव लोकस्थितिः ॥१९॥**

अन्वय—स्वजने दाक्षिण्यं परिजने दया दुर्जने शाठ्यम्, साधुजनेस प्रीतिः नृपजने नयः विद्वज्जने च आर्जवम्, शत्रुजने शौर्यम्, गुरुजने क्षमा, कान्ताजने धृष्ठता, एवं च ये पुरुषाः कलासु कुशलाः तेषु एव लोकस्थितिः (अस्ति)।

शब्दार्थ—स्वजने दाक्षिण्यम्=अपने बन्धुजनों के विषय में छन्दानुवर्तन अर्थात् उनकी इच्छानुसार ही उदारतापूर्वक व्यवहार करना, परिजने दया=दूसरे भृत्यादिजनों के विषय में दया, सदा दुर्जने शाठ्यम्=सदा ही दुष्टजनों के विषय में शठता अर्थात् धूर्ततापूर्वक व्यवहार करना, साधुजने प्रीतिः=सज्जनों के विषय में स्नेह, नृपजने नयः=राजाओं के विषय में नीति, विद्व-

ज्जने च आर्जवम्=और विद्वानों के विषय में नम्रता, शत्रुजने शौर्यम्=शत्रुओं के विषय में वीरता प्रदर्शन, गुरुजने क्षमा=गुरुजनों के विषय में क्षमाशीलता, कान्ताजने धृष्ठता=स्त्रीजनों के विषय में प्रगल्भता, ये चैवं पुरुषा: कलासु कुशला:=इस और उक्त कलाओं में जो पुरुष निपुण होते हैं, तेषु एव लोकस्थिति:=उन्हीं लोगों में लोक मर्यादा रहती है।

अनुवाद—अपने बन्धुजनों पर उनकी इच्छानुसार उदारतापूर्वक व्यवहार करना, दूसरे भृत्यादिजनों पर दया रखना, सदा ही दुष्टजनों के साथ धूर्ततापूर्वक व्यवहार करना, सज्जनों पर प्रेम रखना, राजाओं के साथ नीति पूर्वक आचरण करना, विद्वानों पर विनम्र व्यवहार रखना, शत्रुजनों पर वीरता प्रदर्शन, गुरुजनों पर क्षमाशील रहना, स्त्रीजनों के साथ प्रगल्भतापूर्वक व्यवहार करना, इन उक्त व्यवहार कलाओं में जो पुरुष चतुर होते हैं। उन्हीं पर लोक मर्यादा स्थिर रहती हैं।

भावार्थ—लोक व्यवहार में कुशलता प्राप्त करने के लिये तथा जीवन साफल्य के लिये मनुष्य को प्रस्तुत श्लोक द्वारा निर्दिष्टकलाओं में कुशल होना चाहिये, इस कुशलता से ही लोक मर्यादा स्थिर रह सकती है। समाज में विविध प्रकार के विचित्र चित्तवृत्तियों वाले लोग होते हैं अत: सबके साथ समान व्यवहार नहीं किया जा सकता, इसीलिये कवि ने विविध जनों के साथ भिन्न-भिन्न प्रकार व्यवहार करने का उपदेश दिया है। अपने बन्धुजनों के साथ छन्दानुवर्तत ही श्रेयस्कर होता है, अन्यथा वे निन्दा करने लगेंगे। परिजन-भृत्यादिकों पर दया रखनी चाहिए अन्यथा वे दु:खी होकर भली भाँति सेवा न कर सकेंगे, दुष्टजनों के साथ चालाकी से ही व्यवहार करना चाहिये, अन्यथा वे निन्दा करेंगे और धोखा देंगे। इसी प्रकार सज्जनों पर प्रेम, श्रद्धा तथा विश्वास रखना चाहिये अन्यथा वे दु:खी होंगे राजाओं के साथ नीतिपूर्वक व्यवहार करना चाहिए अन्यथा वे दण्ड देंगे, विद्वज्जनों के साथ नम्रतापूर्वक व्यवहार करना चाहिये। शत्रुओं पर वीरता दिखाना ही श्रेयस्कर होता है अन्यथा वे पराजित करने का प्रयत्न करेंगे, गुरुजनों के विषय में क्षमा शीलता एवं सहिष्णुता होनी चाहिए अन्यथा क्रुद्ध होने पर वे शाप भी दे सकते हैं। इसी प्रकार स्त्रीजनों के साथ प्रगल्भतापूर्वक व्यवहार करना चाहिये, अन्यथा वे पुरुष को वशंगत कर स्वेच्छानुकूल आचरण करने लगेंगे। जिन पुरुषों में ये गुण पाये जाते है उन्हीं से लोक मर्यादा की रक्षा हो सकती

है अन्य लोगों से नहीं। विद्वज्जनों में ही ये गुण होते हैं, अतएव वे ही लोक मर्यादा रक्षक होते हैं।

विशेष—यहाँ भी शार्दूल विक्रीडित छन्द है।

प्रसंग—प्रस्तुत श्लोक द्वारा कवि सत्संगति का महत्व बतलाता हुआ कहता है—

> **जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं,**
> **मानोन्नतिं दिशति पाप मपाकरोति।**
> **चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्ति,**
> **सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम् ॥२०॥**

अन्वय—धियः जाड्यं हरति, वाचि सत्यम् सिञ्चति, मानोन्नतिम् दिशति, पापम् अपाकरोति, चेतः प्रसादयति, दिक्षु कीर्ति तनोति, (अतः) कथय सत्संगतिः पुसाम् किम् न करोति।

शब्दार्थ—धियः जाड्यं हरति=बुद्धि की जड़ता या मन्दता को दूर करती है, वाचि सत्यं सिञ्चति=वाणी में सत्यभाव का सिञ्चन करती है, मनोन्नतिम् दिशति=मान, प्रतिष्ठा और उन्नति अथवा बहुमानातिशय देती हैं, पापम् अपाकरोति=पाप को नष्ट करती है, चेतः प्रसादयति=चित्त को प्रसन्न करती है, दिक्षु कीर्तिम् तनोति=दिशाओं में कीर्ति फैलाती है, कथय सत्संगतिः पुसां किं न करोति=कवि पूछता है कि बताइये सत्संगति पुरुषों के लिये क्या नहीं करती है, अर्थात् वह सब कुछ करती है।

अनुवाद—बुद्धि की जड़ता को दूर करती है, वाणी में सत्यता का सिञ्चन करती हैं, मान और उन्नति देती है, पाप को नष्ट करती है, चित्त को प्रसन्न करती और दिशाओं में कीर्ति को फैलाती है, अतः बताओ, सत्संगति मनुष्यों के लिये क्या नहीं करती है? अर्थात् वह सब कुछ करती है।

भावार्थ—सत्संगति के प्रभाव से मनुष्य की बुद्धि तीव्र होती है, सत्य भाषण और सत्याचरण में उसकी प्रवृत्ति होती है, मनुष्य सत्संगति बल से मान प्रतिष्ठा एवं उन्नति प्राप्त करता है, उसके पाप नष्ट हो जाते हैं, चित्त सदा प्रसन्न रहता है और उसकी कीर्ति सभी दिशाओं में विस्तृत होती है। अतः सिद्ध है कि सत्संगति में वे सभी गुण हैं जिनकी मनुष्य को अपना जीवन सफल बनाने के लिए आवश्यकता होती है। अतएव कवि इन गुणों का वर्णन करने के बाद पूछता है कि कोई बताये कि वह कौन सा गुण है जो सत्संगति

से प्राप्त नहीं होता अथवा मनुष्य की वह कौन सी इच्छा है जो सत्संगति से पूर्ण नहीं होती। वस्तुतः सत्संगति से सभी लाभ होते हैं।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में समुच्चयालंकार तथा वसन्त तिलका नामक छन्द है।

प्रसंग—पुण्यात्मा तथा रससिद्ध कवीश्वरों का महत्व बतलाता हुआ कवि कहता है—

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वरः।
नास्ति तेषां यशः काये जरामरणजं भयम् ॥२१॥

अन्वय—ते सुकृतिनः रससिद्धाः कवीश्वराः जयन्ति तेषाम् यशः काये जरामरणजं भयम् नास्ति।

शब्दार्थ—ते=वे, सुकृतिः=पुण्यात्मा-जन, रससिद्धाः=जिन्हें शृङ्गारादि रस सिद्ध है अर्थात् जो रसों की अभिव्यक्ति में वश्यवाणी हैं, कवीश्वराः =श्रेष्ठ कविजन, तेषाम्=उनके, यशः काय=यश रूपी शरीर में, जरामरण जंम्=वृद्धावस्था और मरण से उत्पन्न होने वाला, भयं नास्ति=भय नहीं है। जयन्ति=सर्वोत्कृष्टता से वर्तमान हैं।

अनुवाद—वे पुण्यात्मा तथा शृङ्गारादि रसों की अभिव्यक्ति में सर्वथा कुशल श्रेष्ठ कविजन सर्वोत्कृष्टता से वर्तमान है, उनके कीर्ति रूपी शरीर में बुढ़ापा तथा मृत्यु से होने वाला भय नहीं है।

भावार्थ—जो शृङ्गारादि नवसंख्यात्मक रसों की अभिव्यक्ति में परम प्रवीण है और पुण्यात्मा हैं, ऐसे श्रेष्ठ कविजन ही आज भी सर्वोत्कृष्टता से वर्तमान हैं, क्योंकि उनके यशः शरीर में वृद्धावस्था और मृत्यु का भय नहीं है। तात्पर्य यह कि रससिद्ध कवीवश्रों का पाञ्चभौतिक शरीर भले ही नष्ट हो जाय, पर उनका कीर्ति रूपी शरीर सदा स्थायी रहता है। उनके यशः शरीर को न कभी मृत्यु का ही भय होता है और न बुढ़ापे का, अतएव वे सर्वोत्तमता के साथ आज भी वर्तमान हैं। वाल्मीकि, कालिदास आदि सर्वश्रेष्ठ कवि यद्यपि आज नहीं हैं, उनका पाञ्चभौतिक शरीर वृद्ध होकर नष्ट हो चुका है, पर उन्होंने जो अपनी रचनाओं द्वारा यश अर्जित किया है; वह आज भी वर्तमान है। इस प्रकार मरने के उपरान्त भी श्रेष्ठ कवि अपने यशः शरीर से सदा अमर रहते हैं।

किन्हीं टीकाकारों ने 'रससिद्धाः' का अर्थ 'ब्रह्मसाक्षात्कारवन्तः' भी किया है अर्थात् 'रसो वै सः' इस श्रुति के अनुसार रस का अर्थ है ब्रह्म और सिद्धाः का अर्थ है—साक्षात्कार करने वाले अर्थात् जिन्होंने परब्रह्म का समाधिस्थ होकर साक्षात्कार कर लिया है फलतः जो पुण्यात्मा एवं कवीश्वर अर्थात् प्रकान्तदर्शी कालत्रयाभिज्ञ ब्रह्मविद्याविशारद हैं, वे भी अपने पाञ्चभौतिक शरीर के विनष्ट हो जाने पर यशःशरीर से सदा अजर और अमर रहते हैं। वस्तुतः रससिद्ध कवीश्वरों के भौतिक शरीर में ही जरामरणज भय नहीं होता, उनके यशः शरीर में तो वह सर्वथा असम्भव ही है। अर्थात् उनका यशः शरीर तो आकल्पान्त स्थायी है।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में काव्यलिंग अलंकार है।

(मानशौर्यपद्धतिः)

प्रसंग—मान-प्रतिष्ठा एवं शौर्य—वीरभाव की सभी लोगों को आवश्यकता होती है और विद्वानों के लिए भी आवश्यक है, अतः विद्वत्पद्धति निरूपण के बाद कवि मौन शौर्य पद्धति को बतला रहा है—

क्षुत्क्षामोऽपि जराकृशोऽपि शिथिलप्रायोऽपि कष्टां दशाः
मापन्नोऽपि विपन्नदीधितिरपि प्राणेषु नश्यत्स्वपि।
मत्तेभेन्द्रविभिन्नकुम्भपिशितग्रासैकबद्धस्पृहः,
किं जीर्णं तृणमत्ति मानमहत्ता मग्रेसरः केसरी ॥२२॥

अन्वय—क्षुत्क्षामः अपि जराकृशः अपि शिथिलप्रायःअपि कष्टाम् दशाम् आपन्नः अपि विपन्नदीधितिः अपि प्राणेषु नश्यत्सु अपि, मत्तेभेन्द्रविभिन्नकुम्भपिशितग्रासैकबद्धस्पृहः मानमहताम् अग्रेसरः केसरी किम् जीर्णम् तृणम् अत्ति ?

शब्दार्थ—क्षुत्क्षामोऽपि=भूख से क्षीण (दुबला अति कृश) हुआ भी, जराकृशोऽपि=बुढ़ापे से जीर्ण-शीर्ण भी, शिथिलप्रायोऽपि=अतिकृशाङ्ग होने के कारण बलहीन भी, कष्टां दशामापन्नोऽपि=आहारादि न मिलने से अति दुःखावस्था को प्राप्त हुआ भी, (अतएव) विपन्न दीधितिः अपि= नष्ट कान्ति वाला होकर भी, प्राणेषु नश्यत्सु अपि=प्राणप्रयाणकाल के प्राप्त होने पर भी, मत्तेभेन्द्रविभिन्नकुम्भपिशितग्रासैकबद्धस्पृहः=

मतवाले गजराज के विदीर्ण किये हुए गण्डस्थल के माँस के ग्रास के लिए ही एकमात्र इच्छा बाँधने वाला, मानमहताम् अग्रेसर:=मानोन्नत जीवों में अग्रगण्य, केसरी=सिंह, किं जीर्णं तृणम् अत्ति=क्या सूखी सड़ी घास खाता है ?

अनुवाद—भूख से क्षीण भी, वृद्ध होने से जीर्ण शीर्ण भी, बलहीन भी, आहारादि न मिलने से अति दु:खावस्था को प्राप्त हुआ भी, क्षीणकान्ति होकर भी, प्राण प्रयाण संप्राप्त होने पर भी, मत्त गजराज के विदीर्ण गण्ड स्थल के मांस के ग्रास पर एकमात्र इच्छा को आबद्ध करने वाला मानोन्नत जीवों में अग्रगण्य सिंह क्या सूखी सड़ी घास खाता है ? अर्थात् कदापि नहीं।

भावार्थ—सिंह और स्वाभिमानी पुरुषों का स्वभाव एक-सा होता है। सिंह भूखा भले ही मर जाय पर वह स्वाभिमानी होने के कारण कभी भी सूखी घास खाकर प्राण धारण न करेगा। भूखा, जीर्ण, शीर्ण, दुर्बल, क्षीणकान्ति अशक्त होने पर भी सिंह प्राण सकट उपस्थित होने पर भी, गज-राजों के अपने द्वारा विदीर्ण किए गये गण्डस्थल के माँस को ही खाने का प्रयास करेगा, कभी तृणादि खाकर जीवित न रहना चाहेगा, क्योंकि वह सभी मानधनी जीवों में श्रेष्ठ होता है। इसी प्रकार मानधनी मनुष्य भूख से व्याकुल होकर भी, दुर्बल, वृद्ध, शिथिल एवं अति दु:खित होकर भी, मरण-काल उपस्थित होने पर भी, कभी किसी से माँग कर न खायेगा। कुल-क्रमागत उत्तम शील का परिपालन ही मान कहा जाता है, तथा बिना किसी की सहायता के शत्रु पर प्रहार करने की क्षमता को शौर्य कहा गया है। प्रस्तुत श्लोक में दोनों का ही निर्देश है।

कवि का उपदेश है कि मनुष्य को स्वाभिमानी होना चाहिए। कैसी भी विपत्ति उन पर पड़े, कितना भी दु:ख क्यों न हो, भले ही मृत्यु हो जाय पर धैर्य न छोड़ना चाहिये, आत्मप्रतिष्टा और शौर्य का त्याग कदापि न करना चाहिये। निज गौरव की रक्षा सबसे बड़ा गुण है।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में अप्रस्तुत प्रशंसालंकार तथा शार्दूल विक्रीडित छन्द है।

प्रसंग—क्षुद्र जीव की प्रवृत्ति उक्त मानधनी व्यक्ति के ठीक विपरीत होती है, इसी आशय को व्यक्त करता हुआ कवि कहता है—

स्वल्पस्नायुवसावसेकमलिनं[1] निर्मांसमप्यस्थि गोः,
श्वा लब्ध्वा परितोषमेति न च तत्तस्य क्षुधाशान्तये।
सिंहो जम्बुकमङ्कमागतमपि त्यक्त्वा निहन्ति द्विपं,
सर्वः कृच्छ्गतोऽपि वाञ्छति जनः सत्वानुरूपं फलम् ॥२३॥

अन्वय—श्वा स्वल्पस्नायुवसावसेकमलिनं निर्मांसम् अपि गोः अस्थि लब्ध्वा परितोषम् एति तत् तस्य क्षुधाशान्तये न च (भवति)। सिंहः अंकम् आगतम् अपि जम्बुकम् त्यक्त्वा द्विपम् निहन्ति। कृच्छ्गतः अपि सर्वः जनः सत्त्वानुरूपम् फलम् वाञ्छति।

शब्दार्थ—श्वा=कुत्ता, स्वल्पस्नायुवसावसेकमलिनम्=अत्यल्प स्नायु तथा चर्बी के लगे होने से मल दूषित, निर्मांसम्=माँस से रहित, अपि=भी, गोः=पशु की, अस्थि=हड्डी को, लव्ध्वा=पाकर, परितोषम् एति=परम सन्तोष प्राप्त करता है, (यद्यपि) तत्=वह हड्डी, तस्य=उसकी, क्षुधाशान्तये न च=भूख को शान्त करने के लिये नहीं होती। सिंहः (तु) सिंह तो अंकम् आगतम् अपि=समीप में आये हुए भी, जम्बुकम् त्यक्त्वा=गीदड़ को छोड़कर, द्विपम्=हाथी को, निहन्ति=मारता है, कृच्छ्गतः अपि=अति संकट में पड़ा हुआ भी, सर्वः जनः=सब मनुष्य, सत्त्वानुरूपं फलं वाञ्छति=अपनी शक्ति के अनुरूप ही फल चाहता है।

अनुवाद—कुत्ता अत्यल्प स्नायु और चर्बी के लगे होने से मल दूषित माँस रहित भी पशु की हड्डी को पाकर परम सन्तुष्ट हो जाता है, यद्यपि वह उसकी भूख मिटाने के लिये पर्याप्त नहीं होती (क्षुद्रजनों की यही प्रवृत्ति होती है, पर इसके ठीक विपरीत) सिंह तो समीप में आये हुए भी गीदड़ को छोड़कर (दूरस्थ) हाथी को मारता है (यही मानधनी जनों की प्रवृत्ति है)। अति संकटापन्न होता हुआ भी अशेष जन अपनी शक्ति के अनुरूप ही फल चाहता है।

भावार्थ—प्रस्तुत श्लोक में कवि ने प्रथम दो पंक्तियों द्वारा कुत्ते के उदाहरण से, जो मल दूषित और मांस रहित भी पशु की हड्डी को पाकर ही सन्तोष कर लेता है, नीच जनों की प्रकृति बतलाई है, और तृतीय पंक्ति में सिंह के उदाहरण से, जो कि निकटस्थ गीदड़ को छोड़कर दूरस्थ हाथी को ही मारता है, मानी जनों की प्रकृति बतलाई है। वस्तुतः मानधनी जन संकटापन्न होकर भी वही वस्तु प्राप्त करना चाहेगा जो उसके वल पौरुष के

---

१ किन्हीं पुस्तकों में स्वल्पं और अवशेष भी पाठान्तर है, पर अर्थ में विशेष अन्तर नहीं है।

अनुरूप होगी, कभी किसी तुच्छ वस्तु की इच्छा न करेगा। मानी जन विपत्ति-ग्रस्त होकर भी अपने पुरुषार्थ के अनुरूप ही अपनी जीविका चाहते हैं, जिस किसी भी तुच्छ वस्तुमात्र से कदापि पेट भरना नहीं चाहते। हंस या तो मोती ही चुगते हैं या लंघन करके मर जाते हैं, सिंह या तो गजराजों को ही मार कर खाते हैं, या भूखों ही मर जाते हैं, क्योंकि वे मानी एवं शौर्यवान् होते हैं।

प्रसंग—प्रस्तुत श्लोक में भी पूर्ववत् क्षुद्र और मानी जनों की प्रकृति में अन्तर बतलाता हुआ कवि कहता है :—

लाङ्गूलचालनमधश्चरणावपातं,
भूमौ निपत्य वदनोदरदर्शनं च ॥
श्वा पिण्डदस्य कुरुते गजपुङ्गवस्तु,
धीरं विलोकयति चाटुशतैश्च भुङ्क्ते ॥२४॥

अन्वय—श्वा लाङ्गूलचालनम् अधः चरणावपातम् भूमौ निपत्य वदनोदर-दर्शनम् च पिण्डदस्य (पुरस्तात्) कुरुते, गजपुंगवः तु धीरम् विलोकयति, चाटुशतैः च भुङ्क्ते।

शब्दार्थ—श्वा=कुत्ता, लाङ्गूलचालनम्=पूँछ हिलाना, अधः=नीचे, चरणावपातम्=पैरों पर गिरना, भूमौ निपत्य=पृथ्वी पर लेट कर, वदनोदर दर्शनम् च=और मुख तथा पेट दिखाना, पिण्डदस्य (पुरस्तात्) रोटी देने वाले के सामने, कुरुते=करता है, गजपुंगवः तु=गजराज तो, (खाना देने वाले के सामने) धीरं विलोकयति=गम्भीरता से देखता है, चाटुशतैः च भुङ्क्ते = और सैकड़ों प्रियवचनों से (अनुनय परक वचनों के कहने पर ही) भुङ्क्ते = खाता है।

अनुवाद—कुत्ता रोटी देने वाले के सामने पूँछ हिलाता है, नीचे चरणों पर गिरता है, और पृथ्वी पर लेट कर मुख तथा पेट दिखलाता है, किन्तु गजेन्द्र तो (खाना देने वाले के सामने) गम्भीरता पूर्वक देखता है और सैकड़ों अनुनय वाक्यों से खाता है।

भावार्थ—कवि ने इस श्लोक में कुत्ते के उदाहरण के द्वारा नीच जनों की प्रवृत्ति दिखलाई है जो कि अपना पेट भरने के लिये टुकड़ा देने वाले के सामने पूँछ हिलाता, पैरों पर गिरता एवं मुख और पेट दिखाता है। इसी श्लोक में गजेन्द्र के उदाहरण के द्वारा मानी जनों की प्रवृत्ति भी दिखलाई है जो कि खाना देने वाले व्यक्ति के सामने बड़ी गम्भीरता से देखता है और जब वह बहुत कुछ

अनुनय विनय करता है तब खाता है। मनुष्यों में भी कुत्ते और हाथी के समान मनुष्य होते हैं। कुछ पेट पालने के लिये महाभिमानी धनियों की नीच से नीच सेवा करते हैं, सैकड़ों तरह की झूठी चापलूसी करते हैं, उनकी खोटी खरी बातें सुनते हैं, पर जो स्वाभिमानी होते हैं, वे भले ही भूखों मरते रहें, पर निकृष्ट काम कदापि नहीं करते हैं। वसन्क तिलका छन्द है।

प्रसंग—जन्म लेना उसी व्यक्ति का सार्थक है जिससे उसके वंश की उन्नति हो, इसी आशय को प्रकट करता हुआ कवि कहता है :—

परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते।
स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम् ॥२५॥

अन्वय—परिवर्तिनि संसारे कः न मृतः (कः) वा न जायते, स जातः येन जातेन वंशः समुन्नति याति।

शब्दार्थ—परिवर्तिनि संसारे=परिवर्तनशील, धर्माधर्मवश पुनः पुनः परिवर्तित होते रहने वाले संसार में, कः न मृतः=कौन नहीं मरता है, को वा न जायते=अथवा कौन उत्पन्न नहीं होता है। अर्थात् सब ही मरते और उत्पन्न होते रहते हैं। स जातः=वह उत्पन्न हुआ है अर्थात् उसको उत्पन्न हुआ समझना चाहिए। येन जातेन=जिसके उत्पन्न होने से, वंशः समुन्नतिम् याति=वंश समुन्नति को प्राप्त होता है।

अनुवाद—परिवर्तनशील संसार में कौन जीव नहीं मरता और कौन उत्पन्न नहीं होता अर्थात् सभी मरते और उत्पन्न होते रहते हैं। वस्तुतः वह उत्पन्न हुआ है, जिसके उत्पन्न होने से वंश उन्नति को प्राप्त करता है। 'मृतः को वा न जायते' का अर्थ यह भी हो सकता है कि कौन मर कर उत्पन्न नहीं होता है ?

भावार्थ—मरना और मरकर पुनः उत्पन्न होना तो संसार का शाश्वत नियम है। जैसा कि कहा गया है 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु ध्रुवं जन्म मृतस्य च।' पर जन्म लेना उसी का सार्थक है जो उत्पन्न होकर अपने वंश की उन्नति और उसका सब प्रकार से उद्धार करे। मान शौर्य सम्पन्न व्यक्ति ही ऐसा करता है और जीवन-साफल्य प्राप्त करता है। पर सभी ऐसे नहीं होते, कवि ऐसे ही लोगों ने प्रति यह उपदेश देता है।

प्रसंग—मान और शौर्य सम्पन्न व्यक्ति के आचरण को बतलाता हुआ कवि कहता है—

कुसुमस्तवकस्येव द्वयी वृत्ति र्मनस्विनः।
मूर्ध्नि वा सर्वलोकस्य शीर्यते[1] वन एव वा ॥२६॥

अन्वय—कुसुमस्तवकस्य इव मनस्विनः द्वयी वृत्तिः (भवति न तु तृतीया) सर्वलोकस्य मूर्ध्नि वा (स्थीयते) वा वने एव शीर्यते।

शब्दार्थ—कुसुमस्तवकस्य इव=फूलों के गुच्छों की तरह। मनस्विनः= उदार एवं मान शौर्यशाली पुरुष की, द्वयी वृत्तिः=दो प्रकार की ही वृत्ति-आचरण व्यवहार (होता है। तीसरे प्रकार का नहीं) 'द्वे गती स्तो मनस्विनाम्' यह भी पाठांतर है और इसका भी अर्थ है 'मान शौर्यशाली जनों के दो ही कार्य होते हैं।' सर्व लोकस्य=सभी लोगों के। मूर्ध्नि= शिर पर अर्थात् सर्वोच्च स्थान पर (स्थीयते) अर्थात् या तो वह समाज में सबसे ऊँचे पद पर रहता है। वने शीर्यते=अथवा वन में जीर्ण-शीर्ण होकर नष्ट हो जाता है।

अनुवाद—पुष्पों के गुच्छे की तरह उदार एवं मान शौर्यशाली सत्पुरुष की वृत्ति (गति) दो ही प्रकार की होती है, या तो वह सभी लोगों के शिर पर रहता है, अर्थात् सर्वापेक्षया उच्च पद पर रहता है अथवा वन में ही (उत्पन्न) होकर नष्ट हो जाता है।

भावार्थ—आत्म-सम्मान के इच्छुक पुरुष वस्तुतः फूलों जैसे स्वभाव वाले होते हैं। फूल या तो राजाओं अथवा देवताओं के शिर पर ही चढ़ता है अथात् सर्वोच्च स्थान पर पहुँचता है, अथवा फिर अपनी डाल से स्वतः टूट कर वन में ही गिर कर सूख जाता है, इसके अतिरिक्त वह कभी निम्न स्थान पर नहीं रहता। मनस्वी पुरुष भी या तो सब लोगों के ऊपर रहते हैं अर्थात् सर्वोच्च स्थान पर रहते हैं। अथवा जहाँ पैदा होते हैं वहीं चुपचाप अपना जीवन बिता कर नष्ट हो जाते हैं। न तो वे कभी नीच कार्य कर जीविकोपार्जन करते हैं और न अपमानित होकर कुत्सित स्थान पर ही जीवन बिताते हैं। शिवजी, प्रताप आदि के उदाहरण इसके प्रमाण हैं।

विशेष—कुसुमस्तबकस्येव में समासगा श्रौती पूर्णोपमा है।

---

१. 'विशीर्येत वनेऽथवा' भी पाठान्तर है, अर्थ में कोई विशेष अन्तर नहीं है।

प्रसंग—महापुरुषों का स्वभाव ही ऐसा होता है कि वे अपने से छोटे या दुर्बल जीवों पर वैर-भाव नहीं रखते, अपने समान तेजस्वी पर ही पराक्रम दिखाते हैं, इसी बात का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

सन्त्यन्येपि वृहस्पतिप्रभृतयः सम्भाविताः पञ्चषाः,
तान् प्रत्येष विशेषविक्रमरुची राहु नं वैरायते ॥
द्वायेव ग्रसते दिवाकरनिशाप्राणेश्वरौ भास्वरो,
भ्रातः पर्वणि पश्य दानवपतिः शीर्षावशेषाकृतिः ॥२७॥

अन्वय—अन्ये अपि वृहस्पतिप्रभृतयः पञ्चषाः (ग्रहाः) सम्भाविताः सन्ति, तान् प्रति विशेषविक्रमरुचिः एष राहुः न वैरायते, (किन्तु) भास्वरौ द्वौ दिनेश्वरनिशाप्राणेश्वरौ एव शीर्षविशेषाकृतिः दानवपतिः पर्वणि ग्रसते, हे भ्रातः (इति त्वम्) पश्य ।

शब्दार्थ—अन्येऽपि = दूसरे भी (यद्यपि) वृहस्पतिप्रभृतयः= वृहस्पति, बुध, शुक्र आदि, पञ्चषाः = पाँच अथवा छः ग्रह, सम्भाविताः सन्ति=बहुमत माने गये हैं। तान् प्रति= (तथापि) उनके प्रति, विशेषविक्रमरुचिः = विशिष्ट तेजस्वी जनों पर ही पराक्रम दिखाने की रुचि रखने वाला, एषः राहुः=यह राहु, न वैरायते= वैर नहीं करता अर्थात् इन्हें नहीं ग्रसता (अपितु) भास्वरौ=तेजस्वी, द्वौ= दो, दिनेश्वर निशाप्राणेश्वरौ=सूर्य और चन्द्र को, एव=ही, शीर्षावशेषाकृतिः=शिर मात्र अवशिष्ट शरीर वाला, दानवपतिः=दानेश्वर राहु, पर्वणि=अमावस्या और पूर्णिमा के पर्व पर ही ग्रसते=ग्रसित करता है, हे भ्रातः (इति त्वम्) पश्य=ऐ भाई तुम यह देखो ।

अनुवाद--(यद्यपि) बृहस्पति आदि दूसरे भी पञ्च, छः माने हुए ग्रह हैं, (तथापि) उनके प्रति, विशिष्ट तेजस्वी जनों पर ही पराक्रम दिखाने की रुचि रखने वाला यह राहु वैर नहीं करता (अपितु) विशिष्ट तेजस्वी दो सूर्य और चन्द्र को ही, शिरमात्र जिसकी आकृति शेष रह गई है ऐसा दानवेन्द्र राहु अमावस्या और पूर्णिमा के पर्व पर ग्रसता है, भाइयो यह विचित्र बात तुम देखो ।

भावार्थ—महापुरुष शक्तिशाली वीर एवं मानधनी जन अपने से कम तेजस्वी दुर्बल हीन जनों से कदापि वैर नहीं करते, क्योंकि वे जानते हैं कि इनसे जीतने पर भी हार है और हार जाने पर तो हार है ही । अतः वे अपने

समान पराक्रमी लोगों से ही वैर और युद्ध करते हैं। जैसा कि एक नीतिकार ने स्वयं कहा है—

तृणानि नोन्मूलयति प्रभञ्जनो मृदूनि नीचैः प्रणितानि सर्वतः
समुच्छितानेव तरून् प्रबाध्यते महान् महत्येव करोति विक्रमम्।

राहु दानवेन्द्र होकर भी मानधनी एवं शौर्य सम्पन्न है, अतएव वह बृहस्पति जैसे अन्य सीधे सादे कम तेजस्वी ग्रहों पर अपना पराक्रम नहीं दिखाता अपितु अपने समान बलवान् तेजस्वी सूर्य चन्द्र को ही ग्रसता है। मानी जनों का ऐसा स्वभाव ही होता है। शिरोमात्रावशिष्ट भी राहु जब ऐसा आचरण करता है यदि पूर्णांग होता तो न जाने क्या करता। वस्तुतः शौर्यवान् अपने विकलांगों की भी चिन्ता न कर अपने समान तेजस्वी पर ही पराक्रम दिखाता ही। प्रस्तुत श्लोक में शार्दूल विक्रीडित छन्द है।

प्रसंग—महापुरुषों के महत्व का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

वहति भुवनश्रेंणि शेषः फणाफलकस्थितां,
कमठपतिना मध्ये पृष्ठं सदा स च धार्यते।
तमपि कुरुते क्रोडाधीनं पयोधिरनादरा,
दहह महतां निःसीमानश्चरित्र विभूतयः ॥२८॥

अन्वय—शेषः फणाफलकस्थिताम् भुवनश्रेणिम् वहति, स च (शेषः) कमठपतिना मध्येपृष्ठम् सदा धार्यते, तम् अपि (कमठपतिमपि) पयोधिः अनादरात् क्रोडाधीनम् कुरुते, अहह, महताम् चरित्रविभूतयः निःसीमानः (भवन्ति)।

शब्दार्थ—शेषः=आदि शेषनाग, फणाफलकस्थिताम्=सहस्रसंख्यामित फनों रूप फलक पर रखी हुई, भुवनश्रेणिम्=पातालादि चतुर्दश लोकों की पंक्ति को, वहति=धारण करता है। स च=और वह शेषनाग भी, कमठपतिना=आदि कूर्मराज के द्वारा, मध्ये पृष्ठम्=अपनी पीठ के मध्य भाग पर, धार्यते=धारण किया जाता है, तमपि=उस कमठपति को भी, पयोधिः=समुद्र, अनादरात्=अनायास ही, क्रोडाधीनम् कुरुते=अपने क्रोड में रख लेता है। अहह=आश्चर्य की बात है कि, महतां चरित्रविभूतयः=महापुरुषों के चरित्र-आचरण की सम्पत्तियाँ या विशेषतायें, निःसीमानः=सीमा रहित अर्थात् अवाङ्मनोगोचर ही होती हैं, अर्थात् न उन्हें कोई समझ पाता है और न वहाँ तक सोच ही पाता है, यही बड़ा आश्चर्य है।

अनुवाद—आदि शेषनाग सहस्र संख्याक फनों रूप फलक पर रखी हुई पातालादि चतुर्दश लोकों की पंक्ति को धारण करता है, उस शेषनाग को भी आदि कच्छपराज अपनी पीठ के मध्य भाग पर धारण करता है, उस कच्छ-पराज को भी समुद्र अनायास ही अपने क्रोड में रखे है। आश्चर्य है कि महापुरुषों के उत्तम आचरण की विशेषतायें सीमा रहित तथा अवाङ्मनो-गोचर होती हैं।

भावार्थ—पहले तो यही बड़े आश्चर्य की बात है कि शेषनाग अपने फनों पर चतुर्दश लोकों को धारण किये हुए हैं। फिर भी उन्हें बोझा नहीं लगता, इससे भी अधिक विस्मय की बात यह है कि ऐसे शेषनाग को भी कच्छपराज अपनी पीठ पर धारण किये हुये हैं, और सबसे बड़ा आश्चर्य तो इस बात का है कि उस कच्छपराज को भी जो कि चौदह भुवनों के सहित शेषनाग को अपनी पीठ पर धारण किये हुये है, अनायास ही प्रलयकालीन समुद्र अपने क्रोड में समाविष्ट कर लेता है, अतः कहना पड़ता है कि वस्तुतः महापुरुषों की सामर्थ्य की कोई सीमा नहीं है।

विशेष—'मध्येपृष्ठम्' में 'पारे मध्ये वष्ठ्या वा' सूत्र से अव्ययी भाव समास है, पृष्ठस्य मध्ये इति मध्येपृष्ठम्। 'अहह' शब्द का प्रयोग खेद और आश्चर्य दोनों अर्थों में होता है। यहाँ इसका प्रयोग आश्चर्य अर्थ में हुआ है। यहाँ पूर्व-पूर्व के प्रति उत्तर-उत्तर गुणों या महापुरुषों का उत्कर्ष वर्णन होने के कारण मालादीपक अलंकार है 'यदा तु पूर्वपूर्वस्य' सम्भवेदुत्तरोत्तरम्, प्रत्युत्कर्षावहत्वं तन्माला दीपक मुच्यते-विद्यानाथ। प्रस्तुत श्लोक में हरिणी नामक छन्द है जिसका लक्षण पहले लिखा जा चुका है—

प्रसंग—मान शौर्यशाली मनुष्य का ही महत्त्व होता है, न कि इनसे विहीन व्यक्ति का। इसी आशय को प्रकट करता हुआ कवि कहता है—

वरं प्राणोच्छेदः समदमधवन्मुक्तकुलिश—
प्रहारै रुद्गच्छद्बहुलदहनोद्गारगुरुभिः।
तुषाराद्रेः सूनोरहह पितरि क्लेशविवशे
न चासौ सम्पातः पयसि पयसां पत्युरुचितः ॥२६॥

अन्वय—तुषाराद्रेः सूनोः उद्गच्छद्बहुलदहनोद्गारगुरुभिः समदमधव-न्मुक्तकुलिशप्रहारैः प्राणोच्छेदः वरम्, अहह पितरि क्लेशविवशे सति असौ पयसां पत्युः पयसि सम्पातः न उचितः।

शब्दार्थ—दुषाराद्रे: सूनो:=हिमालय पर्वत में पुत्र मैयाक पर्वत का, उद्‌गच्छद्‌बहुलदहनोद्‌गार गुरुभि:=उज्जृम्भमाण-ऊपर को बढ़ता हुआ जो अत्यधिक अग्नि अर्थात् शिलासंघात से उत्पन्न भयावह अनल, उसके नि:सरणों से दु:सह, अर्थात् शिलाओं के संघर्ष से उज्जृम्भमाण अनल के बहिर्गमन से असहनीय, समदमघवन्मुक्तकुलिशप्रहारै:=सदर्प देवेन्द्र के द्वारा प्रयुक्त वज्रायुध के प्रहारों से प्राणोच्छेद:=प्राणोत्सर्ग मरना, वरम्=अच्छा है। अहह=पर खेद की बात है कि, पितरि क्लेशविवशे सति=अपने पिता हिमालय के वज्र प्रहार जनित दु:ख से विह्वल होने पर। असौ=यह (मैनाक पर्वत का) पयसां पत्यु: पयसि=समुद्र के जल में। सम्पात:=प्रवेश–निज प्राण रक्षार्थ प्रवेश करके छिप जाना, उचित:=उचित नहीं था।

अनुवाद—हिमालय पर्वत के पुत्र मैनाक पर्वत का, (शिलाओं के संघर्ष से) उज्जृम्भमाण समधिक अनल के बहिर्गमन से असह्य, सदर्प देवेन्द्र के द्वारा प्रयुक्त वज्रायुध के प्रहारों से मर जाना श्रेष्ठ था, किन्तु खेद है कि अपने पिता हिमालय के (वज्र प्रहार जनित) दु:ख से विह्वल होने पर उसका (निज प्राण रक्षार्थ) समुद्र के जल में प्रवेश करना अर्थात् अपने प्राण बचाने के लिये समुद में प्रवेश कर छिपना, उचित न था।

भावार्थ—'पूर्व समय में जबकि पंखधारी पर्वत इधर उधर स्वेच्छा से उड़कर भूमण्डल को विनष्ट करने पर उद्यत हो गये, तब क्रुद्ध होकर इन्द्रदेव इन पर्वतों को अपने वज्र से काटने लगे। वज्र प्रहार से शिलाओं के टूटने से भयावह अग्नि ज्वालायें निकलने लगीं, इस प्रकार के महान् असह्य संघर्ष एवं संहार को देख कर भयभीत होकर हिमालय पर्वत का पुत्र मैनाक पर्वत तो समुद्र में छिप गया और अपने प्राणों की रक्षा की, शेष पर्वतों के पंख इन्द्रदेव ने अपने वज्र से काट डाले। जिस समय हिमालय पर्वत इस वज्र प्रहार से विह्वल हो रहा था उसी समय उसे अर्थात् अपने पिता को मरणासन्न दशा में छोड़कर उसका पुत्र मैनाक समुद्र में छिपकर अपनी रक्षा कर रहा था। इस पौराणिक कथा की ओर संकेत करते हुए कवि ने यहाँ यह बतलाया है कि सामान्यत: तो मान शौर्यशाली जीव का अपने प्राणमात्र की रक्षा के लिये कहीं छिप रह जाना ही अयशस्कर होता है, पर पिता के दु:ख से विह्वल होने पर प्राणों की रक्षा मात्र के लिये कहीं छिप जाना तो

और भी अधिक अयशस्कर होता है। यहाँ मैनाक के दृष्टान्त द्वारा मनुष्य की स्वार्थमयी नीच प्रवृत्ति को बतलाया गया है। सामान्यतः किसी को भी ऐसी प्रवृत्ति नहीं अपनानी चाहिये। पर मान शौर्यशाली धनी जन के लिये तो ऐसी प्रवृत्ति और भी निन्दनीय है।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में शिखरिणी नामक छन्द है।

प्रसंग—मानी जन दूसरे के द्वारा किये गये तिरस्कार को कभी नहीं सह सकता। दुर्बल, अल्पकाय एवं असहाय होने पर भी मानी मनुष्य बड़े से बड़े तेजस्वी का सामना करने को प्रस्तुत हो जाता है, इसी भाव को व्यक्त करता हुआ कवि कहता है—

यदचेतनोऽपि पादैः स्पृष्टः प्रज्ज्वलति सवितुरिनकान्तः।
तत्तेजस्वी पुरुषः परकृतनिकृतिं कथं सहते॥३०॥

अन्वय—यत् अचेतनः अपि इनकान्तः सवितुः पादैः स्पृष्टः प्रज्ज्वलति, तत् तेजस्वी पुरुषः (सचेतनः सन्) परकृतनिकृतिम् कथं सहते।

शब्दार्थ—यत्-यस्मात् कारणात्=यतः जबकि, अचेतनः अपि=पाषाण होने के कारण निर्जीव भी, इनकान्तः=सूर्यकान्तमणि, सवितुः पादैः स्पृष्टः= सूर्य के पैरों से (किरणों से) स्पृष्ट होकर=छुआ जाकर, प्रज्ज्वलति=जल उठता है, तत्=तब, तेजस्वी पुरुषः=मान धनी शौर्य सम्पन्न मनुष्य, परकृत-निकृतिम्=दूसरों के द्वारा किये गये अपमान को, कथं सहते=कैसे सह सकता है, अर्थात् कदापि नहीं।

अनुवाद—जबकि निर्जीव होते हुए भी सूर्यकान्त मणि सूर्य के किरण रूप पैरों से स्पष्ट होकर (उसका सामना करने के लिए, उसके सामने) जलने लगता है, तब मान शौर्यशाली पुरुष दूसरों के द्वारा किये गये अपमान को कैसे सह सकता हैं, अर्थात् कदापि नहीं सह सकता।

भावार्थ—तेजस्वी मनुष्य का यह स्वभाव होता है कि वह अपने से बड़े समधिक शौर्यशाली भी शत्रु के द्वारा किये गये अपमान को नहीं सह सकता। तुच्छ एवं अतिलघु होने पर भी सूर्यकान्तमणि जबकि वह सूर्य के पैरों (किरणों) से स्पृष्ट हो जाता है तो जलने लगता है, उसमें अग्नि ज्वालायें निकलने लगती हैं। शूरवीरों का यही स्वभाव होता है, वे मैनाक की तरह अपने प्राणों की रक्षा के लिये कहीं जाकर नहीं छिपते, अपितु शत्रु का साहस के साथ

सामना करते हैं जबकि निर्जीव मणि सूर्य का सामना करने को उद्यत हो जाता है, तब सचेतन प्राणी की तो बात ही क्या।

विशेष—यह आर्या जाति का ही एक भेद है।

प्रसंग—पराक्रम प्रदर्शन में अवस्था भी कारण नहीं होती, इसो भाव को प्रकट करता हुआ कवि कहता है—

सिंहः शिशुरपि निपतति मदमलिनकपोलभित्तिषु गजेषु।।
प्रकृतिरियं सत्त्ववतां न खलु वयस्तेजसो हेतु ।।३१।।

अन्वय—शिशुः अपि सिंहः मदमलिनकपोलभित्तिसु गजेषु निपतति। इयं सत्त्ववताम् प्रकृतिः, वयः तेजसो न हेतुः (भवति) खलु।

शब्दार्थ—शिशुः अपि=बालक भी, पराक्रम प्रदर्शन के अयोग्य अवस्था वाला होकर भी, सिंहः=मृगराज शावक, मदमलिनकपोलभित्तिषु गजेषु= मदजल से मलिन अथवा पंकिल गण्डस्थलों या कपोल प्रदेशों वाले हाथियों पर, निपतति=आक्रमण कर देता है। सत्त्ववताम्=तेजस्वियों की, इयम् प्रकृतिः=यह स्वभाव (ही होता है) वयः=अवस्था, तेजसो हेतुः न (भवति) खलु=तेज अथवा पराक्रमों का कारण नहीं होती है, यह निश्चय है।

अनुवाद—बालक सिंह भी अर्थात् सिंह शावक भी मदजल से पंकिल कपोलस्थलों वाले हाथियों पर आक्रमण करता है। तेजस्वियों का यह स्वभाव होता है। अवस्था तेज का कारण नहीं होती अर्थात् तेजस्वी पराक्रमी होने के लिये अवस्था की आवश्यकता नहीं होती। बालक भी तेजस्वी हो सकता है और अपने स्वभावानुसार पराक्रम दिखला सकता है।

भावार्थ—सिंहशावक यद्यपि अल्पवयस्क होता है, पराक्रम प्रदर्शन योग्य नहीं होता, तथापि चूँकि वह जन्मजात तेजस्वी होता है, अतएव शिशु होकर भी वह मतवाले हाथियों पर आक्रमण करने को उद्यत नहीं होता है। इससे सिद्ध है कि तेज एवं पराक्रम के लिये अवस्था कारण नहीं होती, अपितु जन्म-जात तेजस्वी जनों का ऐसा स्वभाव ही होता है कि वे उत्पन्न होते ही शौर्य प्रदर्शन करने लगते है। "तेजसां हि न वयः समीक्ष्यते"

विशेष—यह भी एक आर्याजाति का भेद ही है।

(अथार्थं पद्धतिः)

मान और शौर्य भी अर्थमूलक ही होते हैं, अतः मागशौर्य निरूपण के अनन्तर अर्थ पद्धति का निरूपण कवि यहाँ से आरम्भ करता है।

प्रसंग—एकमात्र अर्थपर लोगों के आचरण का वर्णन करता हुआ कवि कहता है।

जाति र्यातु रसातले गुणगणस्तस्याप्यधो गच्छतां,
शीलं शैलतटात् पतत्वभिजनः संदह्यतां वह्निना।
शौर्ये वैरिणि वज्रमाशु निपतत्वर्थोऽस्तु नः केवलं,
येनैकेन विना गुणास्तृणलवप्रायाःसमस्ता इमे ॥३२॥

अन्वय—जातिः रसातलम् यातु, गुणगणः तस्य अपि (कहीं 'तत्र' भी पाठान्तर है) अधः गच्छताम्, शीलम् शैलटात् पततुः अभिजनः वह्निना संदह्यताम्, वैरिणिशौर्ये आशु वज्रम् निपततु, नः केवलं अर्थः अस्तु, येन एकेन बिना समस्ता इमे गुणाः तृणलवप्रायाः (सन्ति)

शब्दार्थ—जातिः=ब्राह्मणक्षत्रियादि जाति, रसातलं यातु=रसातल नामक अधोलोक को चली जाय, गुणगणः=धैर्य गाम्भीर्यादि गुणसमूह, तस्याप्यधः=रसातल के भी नीचे, गच्छताम्=चले जायँ, शीलम्=सत् स्वभाव, शैलतटात्=पर्वत तट से, पततु=गिर पड़े अर्थात् विशीर्ण हो जाय, अभिजनः =वंश, वह्निना संदह्यताम्=अग्नि से जल जाये। वैरिणि शौर्य=संक्षोभकारी होने से शत्रु भूत शौर्य पर, आशु वज्र निपततु=शीघ्र ही वज्र गिरे। नः केवलम् अर्थः अस्तु=हमें तो केवल धन प्राप्त हो! येनैकेन विना=जिस एक धन के बिना, समस्ता इमे गुणाः=सभी ये गुण, तृणलवप्रायाः=तृणवत् निस्सार ही हैं।

अनुवाद—(चाहे) ब्राह्मणादि जाति रसातल को चली जाय, धैर्यशौर्यादि गुणसमूह चाहे रसातल से भी नीचे चला जाय, सत्स्वभाव चाहे पर्वतप्रदेश से गिर पड़े अर्थात् गिरकर विशीर्ण हो जाये, चाहे अपना वंश अग्नि से जल जाये, और संक्षोभकारी अतएव शत्रुरूप शौर्य पर शीघ्र ही वज्र गिरे अर्थात् आत्म-शौर्य चाहे भले ही नष्ट हो जाय, पर हमें तो केवल धन प्राप्त हो, जिस एक धन के बिना सभी ये गुण तृणवत् निस्सार ही होते हैं।

भावार्थ—यदि धनार्जन करने में जाति गुणशील वंश शौर्यादि सभी नष्ट हो जायँ तो कोई चिन्ता नहीं। केवल अपने पास धन होना चाहिये,, क्योंकि धन के बिना ये उक्त समस्त गुण तृणवत् निस्सार ही हैं। अतः इन जात्यादि की चिन्ता न कर मनुष्य को केवल धन उपार्जन ही करना चाहिये। धनी के पास ये सभी गुण और आवश्यक पदार्थ अपने आप ही आ जाते हैं। धन ही परमार्थ एवं परम लक्ष्य है। उक्त गुणादि की महत्ता भी धनाधीन ही है। जैसा कि कहा गया है 'धनमर्जय काकुत्स्थ धनमूलमिदं जगत्। अन्तरं नाभि जानामि निर्धनस्य मृतस्य च।'

धन के विषय में नीतिकारों का यह कथन 'अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानां च रक्षणे। पालितानां व्यये दुखं, धिगर्थाः कष्टसंश्रया, तो वस्तुतः अशक्त जन विषयक ही है। यह धन के विषय में सर्वजनीय सिद्धान्त नहीं हो सकता।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में शार्दूल विक्रीडित छन्द है।

प्रसंग—सभी गुण धन का ही आश्रय लेते हैं अर्थात् धनी के पास सभी गुण अपने आप आ जाते हैं, इसी बात का निर्देश करता हुआ कवि कहता है—

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः।
स पण्डितः स श्रुतवान् गुणज्ञः॥
स एव वक्ता स च दर्शनीयः॥
सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति॥३३॥

अन्वय—यस्य वित्तम् अस्ति, स नरः कुलीनः (अस्ति) स पण्डितः, स श्रुतवान् (स च) गुणज्ञः (अस्ति) स एव वक्ता स च दर्शनीयः (भवति) सर्वे गुणाः काञ्चनम् आश्रयन्ति।

शब्दार्थ—यस्य=जिस मनुष्य के पास। वित्तमस्ति=धन होता है। स नरः कुलीनः=वह मनुष्य महाकुलोत्पन्न या सत्कुलोत्पन्न (माना जाता है) स पण्डितः=वही विद्वान्। स श्रुतवान्=वही धर्मशास्त्रादि श्रवण से चतुर भी होता है। स एव वक्ता=वही अच्छा वक्ता (बोलने वाला)। गुणज्ञः=गुणों को जानने वाला (परगुणग्राही) होता है। स च दर्शनीयः=वही दर्शनीय (सुन्दर) होता है। सर्वे गुणाः=सभी गुण। काञ्चनमाश्रयन्ति=स्वर्ण का आश्रय लेते हैं। अर्थात् धन के आश्रय में रहते हैं। धनी के पास ही आते हैं।

भावार्थ—धनवान् व्यक्ति ही सत्कुलोत्पन्न, विद्वान्, बहुश्रुत गुणग्राही, सुवक्ता एवं सुन्दर माना जाता है, क्योंकि धनवान् के ही आश्रय में ये सभी गुण रहते हैं, अतः मनुष्य को इन उक्त गुणों के अर्जन की चिन्ता न करके धनार्जन ही करना चाहिए, धन आते ही ये सभी गुण अपने आप आ जायेंगे।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में असम्बन्ध में सम्बन्ध कथन से अतिशयोक्ति अलंकार तथा उपजाति छन्द है।

प्रसङ्ग—अग्रिम दो श्लोकों द्वारा धन नाश के प्रकार को बतलाता हुआ कवि पहले लोक स्थिति का वर्णन करता हुआ कहता है—

दौर्मन्त्र्यान्नृपतिर्विनश्यति यतिः सङ्गात् सुतो लालनात्
विप्रोऽनध्ययनात् कुलं कुतनयाच्छीलं खलोपासनात।
ह्रीर्मद्यादनवेक्षणादपि कृषिः स्नेहः प्रवासाश्रयात्,
मंत्री चाप्रणयात् समृद्धिरनयात्यागात्प्रमादाद् धनम् ॥३४॥

अन्वय—नृपतिः दौमन्त्र्यात् विनश्यति, यतिः सङ्गात् (विनश्यति एवमेव) सुतः लालनात् विप्रः अनध्ययनात् कुलं कुतनयात्, शीलं खलोपासनात्, ह्रीः मद्यात्, कृषिः अपि अनवेक्षणात्, स्नेहः प्रवासाश्रयात्, मैत्री च अप्रणयात्, समृद्धिः अनयात्, धनं त्यागात् प्रमादात् [च विनश्यति]।

शब्दार्थ—नृपतिः=राजा, दौर्मन्त्र्यात्=देश काल अनुरूप राज्योचित षड्गुणों के चिन्तन के कारण, अथवा दौमन्त्र्यात् का अर्थ है दुष्ट मन्त्रियों वाला होने के कारण अर्थात् यदि राजा के मन्त्री दुष्ट स्वभाव वाले हैं और फलतः वे राजा को अदण्ड्य लोगों को दण्ड देने की और दण्डनीय को क्षमा करने की सलाह देते हैं तो इस दुर्मन्त्र के कारण, विनश्यति=नष्ट हो जाता है। जैसा कि कहा गया है 'सन्मन्त्रिणा वर्धति भूपतीनां लक्ष्मी र्महीधर्मयशः समूहः। दुर्मन्त्रिणा नश्यति तत्तथैव, लक्ष्मीर्महीधर्मयशः समूहः। यतिः=योगी, सङ्गात्=जन संसर्ग के कारण (नश्यति) क्योंकि जनसंसर्ग काम क्रोधादि का हेतु होता है, यदि योग में काम क्रोधादि उत्पन्न हो जाते हैं तो योगी का योग नष्ट हो जाता है, जैसा कि गीता में कहा गया है 'संगात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते। सुतो लालनात्=पुत्र अधिक लाड़ प्यार से (नश्यति) जैसा कि कहा गया है, लालनाद् बहवो दोषाः स्ताडनाद् बहवो

गुणाः। तस्मात्पुत्रं च शिष्यञ्च ताडयेन्नतु लालयेत्॥' विप्रोऽनध्ययनात्=ब्राह्मण वेदशास्त्रादि के अध्ययन न करने से (नश्यति) अपूज्य हो जाता है। जैसा कि कहा गया है वेद वेदाङ्गतत्वज्ञो विप्रः सर्वत्रपूज्यते। अनधीतश्रुति विप्रः सभामध्ये न शोभते। कुलं कुतनयात्=वंश कुपुत्र से (नश्यति) निन्दित होता है, जैसा कि कहा गया है 'कोटरान्तर्भवो वह्निस्तरुमेकं दहिष्यति। कुपुत्र स्तु कुले जातः स्वकुलं नाशयेत् परम्॥' शीलं खलोपासनात्=सत्स्वभाव दुर्जनों के सहवास से नश्यति क्योंकि 'दुर्जन महान्' अनर्थ के कारण होते हैं, यथोच्यते "छादयित्वात्म भावं हि चरन्ति शठबुद्धयः। प्रहरान्त च रन्ध्रेषु सोऽनर्थः सुमहान् भवेत्॥" ह्रीर्मद्यात्=लज्जा मद्यपान से (नश्यति) यथोच्यते "अयुक्तं वहु भाषन्ते यत्र कुत्रापि शेरते। नग्ना विक्षिप्य गात्राणि से जाल्मा इव मद्यपाः॥ कृषिः अनवेक्षणात्=खेती देख भाल न करने से (नश्यति यथोच्यते "कृषिं च पत्नी मनवेक्ष्य यः पुमा नन्यानि कर्याणि समाचरेच्च। ते त्वन्वहं मानसमत्कुलेद्वे तथा च बाधानिचयं च याते॥" स्नेहः प्रवासाश्रयात्=पुत्रदारादि पर उत्पन्न स्नेह देशान्तर में वास करने से (नश्यति) यथोच्यते 'सुताङ्गनाबन्धुषु सोदरेषु नृपेषु च जात मोहः। प्रवास मात्रेण विनश्यतेऽखिलं चिर प्रवासेन हरत्यशेषम्।" मैत्री च अप्रणयात्=और मित्रता अननुराग भाव से (नश्यति) यथोक्तम् "मृद्घट इव सुख भेद्यो दुःसन्धानश्च दुर्जनो भवति। सुजनस्तु कनकघट इव दुर्भेद्यः सौख्यसन्धेयः॥" समृद्धिरनयात्=अर्थसम्पत्ति कुत्सित नीति से (नश्यति) धनं त्यागात् प्रमादादत् च=धन त्याग से अर्थात् याचकों को दे देने से और अनवधानता से नश्यति।

अनुवाद—राजा दुर्मन्त्री के देश कालाननुरूप परामर्श से योगी जनसंसर्ग से, पुत्र लाड़ प्यार से, ब्राह्मण अध्ययन न करने से, वंश कुपुत्र से, शील दुर्जनों के सहवास से, लज्जा मद्यपान से, कृषि देखभाल न करने से, प्रेम विदेश में रहने से, मित्रता अननुराग भाव से, सम्पत्ति अन्याय से, धन त्याग और अनवधानता से नष्ट हो जाता है।

भावार्थ—दुर्मन्त्रियों की कुमन्त्रणा से राजा का राज्य नष्ट हो जाता है 'राज्यं प्रमत्तसचिवस्य नराधिपस्य, विद्याफलं व्यसनिनः कृपणस्य सौख्यम्। नष्ट क्रियस्य कुलमर्थपरस्य धर्मः। लुब्धस्य नश्यति यशः पिशुनस्य मैत्री। शकुनि का उदाहरण इसके लिये प्रमाण है। योगी गृहस्थ जनों के और विशेषतया स्त्री

के संसर्ग से नष्ट हो जाता है। विश्वामित्र का वृतान्त इसका निदर्शन है। अधिक लाड़ प्यार से बच्चे में दुर्गुण ही उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार अन्य लोग ब्राह्मण आदि अनध्ययनादि से विनष्ट एवं अपूज्य हो जाते हैं।

विशेष—इस श्लोक में भी पूर्वोक्त ही छन्द है।

प्रसंग—धन की त्रिविध गति को बतलाता हुआ कवि कहता है—

दानं भोगो नाश स्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गति भवति ॥३५॥

अन्वय—दानम् भोगः नाशः (इति) वित्तस्य तिस्रः गतयः भवन्ति। यः न ददाति न भुङ्क्ते, तस्य तृतीया गतिः भवति।

शब्दार्थ—दानम्=सत्पात्र को दान देना, भोगः=स्रक् चन्दन वनितादि का उपभोग, नाशः=चोरादि के द्वारा नष्ट होना, वित्तस्य इति तिस्रः गतयः भवन्ति=धन की ये तीन गतियाँ होती हैं, यो न ददाति न भुङ्क्ते=जो न देता है और न भोग करता है, तस्य तृतीया गतिः भवति=उसकी तृतीया गति अर्थात् नाश होता है।

अनुवाद—सत्पात्र में दान, उपभोग और नाश, धन की ये तीन गतियाँ होती हैं, जो न देता है और न उपभोग करता है उसकी तीसरी गति अर्थात् नाश होता है।

भावार्थ—दान और उपभोग से रहित धन नष्ट हो जाता है क्योंकि उत्तम, मध्यम और अधम भेद से धन की उक्त तीन ही गति होती हैं। वित्त का सत्पात्र में दान देना ही उसकी प्रथम उत्तम गति है, उपभोग करना द्वितीय मध्यम गति है और चोरादिक के द्वारा उसका नष्ट कर दिया जाना धन की तृतीय अधम गति है अतः धनवान् को दान देकर धन का उत्तम उपयोग करना चाहिए, जैसी की नीतिकारों की सम्मति है "चत्वारो धन-दायादा धर्माग्नि नृपतस्कराः, तेषां ज्येष्ठावमानेन त्रयः कुप्यन्ति सोदराः॥ छन्द—आर्याजाति का उपभेद है।

प्रसंग—दानाशील व्यक्ति की वित्तक्षय जनित क्षीणता भी श्लाघनीय होती है, इसी आशय को प्रकट करता हुआ कवि कहता है—

मणिः शाणोल्लीढ़ः समरविजयी हेतिदलितो,
मदक्षीणो नागः शरदि सरिदाश्यानपुलिना।

कलाशेषश्चन्द्रः सुरतमृदिता बालवनिता,
तनिम्ना शोभन्ते गलितविभवाश्चार्थिषु नराः ।।३६।।

अन्वय—शाणोल्लीढः मणिः, हेतिदलितः समरविजयी, मदक्षीणः नागः, शरदि आश्यानपुलिना सरित्, कलाशेषः चन्द्रः, सुरतमृदिता बालवनिता, अर्थिषु गलितविभवाः नराः च तनिम्ना शोभन्ते ।

शब्दार्थ—शाणोल्लीढः=शस्त्रों को तीक्ष्ण करने का साधन रूप एक विशेष प्रकार का पत्थर अर्थात् शान, से उल्लीढ़ अर्थात् संघृष्ट (घिसा हुआ), मणिः=मणि, हेतिदलितः=शस्त्रों से विक्षत, समरविजयी=रणशूर व्यक्ति, मदक्षीणः नागः=मदस्राव से कृश हाथी, शरदि=शरत् काल में, आश्यान् पुलिना सरित्=शुष्क सैकत प्रदेश वाली नदी, कलाशेषः चन्द्रः=षोडशांश मात्र अवशिष्ट द्वितीया का चन्द्रमा, सुरतमृदिता बालवनिता=रति कालीन मर्दन-चुम्बनादि से शिथिलित मुग्धाङ्गना, (कुत्रचित् "जारवनिता" इत्यादि पाठान्तरम् तत्र वेश्लेत्यर्थोऽवगतव्यः) अर्थिषु=याचकों के विषय में, गलितविभवाः=जिनकी अर्थ सम्पत्ति समाप्त हो चुकी है अर्थात् जो दान करके सम्पत्तिरहित हो चुके हैं, ऐसे मनुष्य, तनिम्ना शोभन्ते=क्षीणता या दुर्बलता से ही शोभित होते हैं ।

अनुवाद—शान पर घिसा हुआ मणि, शस्त्रों से विक्षत योद्धा, मद से क्षीण हाथी, शरद् ऋतु में सूखे पुलिन प्रदेशों वाली नदी, कला मात्र से अवशिष्ट चन्द्रमा, सुरतकालीन मर्दन से शिथिलित नवयुवती, और याचकों के विषय में (दान से) धन से रहित हुए मनुष्य, अपनी क्षीणता से ही शोभा पाते हैं ।

भावार्थ—हीरा आदि रत्न शान पर घिसने से यद्यपि क्षीण हो जाते हैं, तथापि उनमें चमक अधिक वढ़ जाती है, अतः वे क्षीण होकर भी सुन्दर लगने लगते है । शस्त्रों से विक्षत होने पर क्षीण हुआ भी योद्धा अधिक शोभा पाता है, मदस्राव से क्षीण होने पर भी हाथी अधिक सुन्दर लगता है, शरद् काल में जब नदियों के सैकत प्रदेश सूख जाते हैं तो क्षीण एवं शुष्क होने पर भी वे अच्छी लगती हैं । द्वितीया के चन्द्र में एक कलामात्र के शेष रह जाने पर भी वह दर्शनीय होता है, नवयुवती रतिकालीन मर्दन आदि से पीड़ित एवं शिथिल होने पर भी शोभाशालिनी लगती है । इसी

प्रकार याचकों को दान देते-देते जिनका सब धन नष्ट हो गया है, ऐसे लोग भी अपनी इस धनक्षीणता मे ही अधिक शोभा पाते हैं।

वस्तुतः धन का सर्वोत्तम उपयोग दान देना ही है, अतः दान करने पर धनहीन व्यक्ति की शोभा ही होती है।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में अप्रस्तुत मणि आदि का तथा प्रस्तुत मनुष्यों का सामस्त्यरूप तुल्यधर्म से औपम्य के गम्य होने से दीपकालंकार है "प्रस्तुतानां तथान्येषां नामस्त्ये तुल्यधर्मतः। औपम्यं गम्यते यत्र दीपकं तन्निगद्यते।" प्रस्तुत श्लोक में शिखरिणी नामक छन्द है।

प्रसंग—मनुष्यों की धनाभाव तथा धनसद्भाव काल की अवस्था का निर्देश करता हुआ कवि कहता है—

परिक्षीणः कश्चित् स्पृहयति यवानां प्रसृतये,
स पश्चात् सम्पूर्णः कलयति धरित्रीं तृणसमाम्।
अतश्चानेकान्ता गुरुलघुतयार्थेषु धनिना-
मवस्था वस्तूनि प्रथयति च संकोचयति च॥३०॥

अन्वय—कश्चित् परिक्षीणः (सन्) यवानाम् प्रसृतये स्पृहयति, स पश्चात् सम्पूर्णः (सन्) धरित्रीम् तृणसमाम् कलयति, अतः अर्थेषु गुरुलघुतया अनेकान्ता धनिनाम् अवस्था वस्तूनि प्रथयति च संकोचयति च।

शब्दार्थ—कश्चित्, कोई धनी पुरुष, परिक्षीणः सन्=दैवयोग से दरिद्र होकर, यवानाम् प्रसृतये=यव नामक धान्यों की प्रसृति मात्र के लिये (एक अञ्जलि भर) स्पृहयति=इच्छा करता है—लालायित होता है। स पश्चात्=वही दरिद्र मनुष्य कालान्तर में, सम्पूर्णः सन्=दैववशात् धन सम्पन्न, धरित्रीं तृणसमांकलयति=पृथिवी को तिनके के समान अतिलघु मानता है, अर्थात् धन के मद से तुच्छ समझने लगता है। अतः=इसी कारण से, अर्थेषु=यवधरित्री आदि वस्तुओं के विषय में, गुरुलघुतया=महत्त्व और अल्पत्व भाव के कारण, अनेकान्ता=अनिश्चित् स्वरूप वाली–सर्वथा गुरु वस्तु गुरु ही रहेगी, तुच्छ वस्तु तुच्छ ही रहेगी। इस प्रकार के नियमाभाव वाली, धनिनाम् अवस्था=धनीजनों की अवस्था, वस्तूनि=यव धरित्री आदि तुच्छ और महत्तर पदार्थों को, प्रथयति=फैलाती है अर्थात् धनाभाव दशा में तुच्छ वस्तु को भी महान् बना देती है, संकोचयति च=और धन की दशा में महान् भी वस्तु को

तुच्छ बना देती है । अर्थात् धनावस्था और दरिद्रावस्था ही मनुष्य की दृष्टि में वस्तुओं को छोटा और बड़ा बना देती है ।

अनुवाद—(कभी) कोई धनी पुरुष (दैव योग से) दरिद्र होकर यवों की अञ्जलि मात्र के लिये लालायित होता है, और (कभी) वही धनी पुरुष (दैव योग से) धन सम्पन्न होकर, पृथिवी को (अपने धन मद के कारण) तिनके के समान तुच्छ समझने लगता है । इसी कारण से यव धरित्री आदि छोटी-बड़ी वस्तुओं के विषय में महत्व और अल्पत्व भाव के कारण अनिश्चित स्वरूप वाली धनियों की अवस्था यव धरित्री आदि तुच्छ एवं महान् वस्तुओं को (कभी) बढ़ा देती है और (कभी) संकुचित भी कर देती है, अर्थात् धनाभाव दशा में तुच्छ वस्तु को भी महान् बना देती है, और धनाढ्यता की दशा में महान् वस्तु को भी तुच्छ बना देती है । तात्पर्य यह है कि धनावस्था और दरिद्रावस्था ही मनुष्य की दृष्टि में वस्तुओं को छोटा और बड़ा बना देती है ।

भावार्थ—वस्तुतः पदार्थ का कोई अपना मूल्य नहीं होता, मनुष्य की स्थिति ही उसे कभी बड़ा बना देती है और उसकी अवस्था ही कभी उसे तुच्छ बना देती है । जो आज दरिद्र है, कालान्तर में वही धनैश्वर्य सम्पन्न हो ऐश्वर्यवान् कहा जाने लगता है और जो धनवान् है कल वही दरिद्र होने पर तुच्छ भी समझा जाने लगेगा । जब मनुष्य दरिद्रावस्था में होता है तब वह रोटी के एक टुकड़े को भी बहुत समझता है और उसे पाने के लिये लालायित रहता है, सबसे नम्र व्यवहार रखता है और अपने को सबसे तुच्छ मानता है; किन्तु जब वही मनुष्य धनाढ्य हो जाता है तब वह संसार को भी अपने सामने तुच्छ समझने लगता है, यह वसुन्धरा भी उसे तिनके के समान तुच्छ जान पड़ने लगती है । धनाढ्यता और दरिद्रता ही मनुष्य के इस प्रकार के परिवर्तनशील दृष्टिकोण का कारण है ।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में शिखरिणी छन्द है ।

प्रसंग—राजा को सम्बोधित करता हुआ कवि उसके लिये अर्थ साधन का उपाय बतलाता हुआ कहता है—

राजन् दुधुक्षति यदि क्षितिधेनुमेनां,
तेनाद्य वत्समिव लोकममुं पुषाण ।

तश्मिंश्च सम्यगनिशं परिपुष्यमाणे,
नानाफलं फलति कल्पलतेव भूमिः ॥३८॥

अन्वय— हे राजन् ! (त्वम्) एनाम् क्षितिधेनुम् दुधुक्षसि यदि, (तर्हि) तेन अद्य अमुम् लोकम् वत्सम् इव पुषाण, तस्मिन् च अनिशम् सम्यक् परिपुष्यमाणो (सति) भूमिः कल्पलता इव नाना फलम् फलति ।

शब्दार्थ—हे राजन्=नृप ! एताम्=इस (तुम्हारे हाथ में आई हुई), क्षितिधेनुम्=धेनु तुल्य पृथिवी को, दुधुक्षसि—दुहना चाहते हो, यदि= अगर-अर्थात् यदि तुम इस क्षितिधेनु से धन रूप दुग्ध दुहना चाहते हो, धन प्राप्त करना चाहते हो तो, तेन=इस दोहनेच्छा रूप कारण से, अद्य= अब, अमुम्=इस उपलभ्यमान, लोकम्=जनसमुदाय को-प्रजाजनों को, वत्समिव=बछड़े की तरह, पुषाण=पालन करो, (जिस प्रकार बछड़े के पोषणाभाव से मर जाने पर दूध भी नष्ट हो जाता है अर्थात् बछड़े के मर जाने पर गाय का दूध भी सूख जाता है, फिर वह दूध नहीं देती है, उसी प्रकार प्रजाजनों के पोषणाभाव के कारण नष्ट हो जाने पर धन भी नष्ट हो जायेगा) तस्मिन् च=और उस जनसमुदाय के, अनिशम्=सर्वदा, सम्यक्= भली-भाँति पूर्ण रूप से, परिपुष्यमाणे=परिपालित होने पर, भूमिः कल्प-लता इव=पृथिवी कल्पवल्ली के समान (कल्पयत्यभीप्सितानीति कल्पा सा च लता चेति कल्पलता, सैव कल्पवल्ली) नानाफलं फलति=धन धान्यादि बहुरूप फल को निष्पादित करती है ।

अनुवाद—हे राजन् यदि तुम इस धेनु तुल्य पृथ्वी को दुहना चाहते हो, अर्थात् इससे अर्थ सम्पत्ति प्राप्त करना चाहते हो, तो इस दोहनेच्छा के कारण अब इस उपलभ्यमान जन-समुदाय या प्रजाजनों का बछड़े की तरह पालन करो । और उस जनसमुदाय के सर्वदा भली-भाँति परिपालन होने पर पृथिवी कल्पलता के समान धनधान्यादि बहुरूप फल को निष्पादित करती है ।

भावार्थ—वस्तुतः राजा के धन वैभव की वृद्धि प्रजाजनों से ही होती है, यदि राजा प्रजाजनों का सर्वदा भली-भाँति पालन-पोषण करता है और वे परिपुष्ट और सुखी रहते हैं तो राजा इस वसुन्धरा से स्वेच्छानुकूल जितना चाहे उतना धन प्राप्त कर सकता है । इसी बात को कवि ने धेनु एवं वत्स तथा दूध के दृष्टान्त से बतलाया है । पृथिवी धेनु के समान है, प्रजाजन बछड़े के समान हैं यदि गाय का बछड़ा परिपुष्ट रहेगा तो गाय का स्वामी

धेनु से इच्छानुकूल दूध प्राप्त कर लेगा, यदि पोषणाभाव में बछड़ा मर गया तो गाय से दूध भी उपलब्ध न होगा, अतः क्षितिधेनु से अर्थक्षीर प्राप्त करने के लिए लोकवत्स का परिपालन आवश्यक है, इसी स्थिति में यह पृथिवी राजा के लिये कल्पलता के समान धनधान्यादि बहुरूप द्रव्यों को सम्पादित करने वाली हो सकती है।

विशेष—क्षिति धेनुरिव इत्युपमित समासः न तु क्षितिरेव धेनु रिति रूपकम्। कुत्रचित् नाना फलैः फलति यह भी पाठान्तर है। प्रस्तुत श्लोक में वसन्ततिलका छन्द है।

प्रसंग—राजा को सम्बोधित करता हुआ कवि नीति के विविध स्वरूपों को बतलाता हुआ कहता है—

सत्यानृता च परुषा प्रियवादिनी च,
हिंस्रा दयालुरपि चार्थपरा वदान्या।
नित्यव्यया प्रचुरनित्य धनागमा च,
वाराङ्गनेव नृपनीतिरनेक रूपा ॥३९॥

अन्वय—सत्या अनृता, च परुषा प्रियवादिनी च, हिंस्रा दयालुः अपि च, अर्थपरा वदान्या (च) नित्यव्यया प्रचुरनित्य धनागमा च, (अतः) वाराङ्गना इव नृपनीतिः अनेकरूपा (भवति)।

शब्दार्थ—(कुत्रचित्) सत्या=यथार्थ भाषिणी, (कुत्रचित्) अनृता=असत्यवादिनी, (तथा कुत्रचित्) हिंस्रा=घातका, (कुत्रचित्) दयालुः=कारुणिका, अपि=भी। (कुत्रचित्) अर्थपरा=धनलुब्धा, (तथा कुत्रचित्) वदान्या च=और कहीं उदार दानशीला, (कुत्रचित्) नित्यव्यया=अपव्यय या बहुव्यय करने वाली, कुत्रचित् प्रचुरनित्यधनागमा=कहीं नित्य ही अत्यधिक धन प्राप्ति कराने वाली। वाराङ्गना इव=वेश्या के समान, नृपनीतिः=राजनीति, अनेकरूपा=विविध स्वरूपों वाली (होती है)।

अनुवाद—कहीं तो यथार्थ भाषण करने वाली, कहीं असत्यवादिनी भी, कहीं घातका तो कहीं करुणिका भी, कहीं धनलुब्धा तो कहीं उदार एवं दानशीला भी, कहीं बहुत अधिक धन का नित्य व्यय करने वाली तो कहीं नित्य अधिकाधिक धन प्राप्त कराने वाली भी (होती है)। इस प्रकार वेश्या के समान राजनीति बहुरूपिणी होती है।

भावार्थ—कवि ने यहाँ राजनीति को वेश्या के समान अनेक रूप धारण करने वाली बतलाया है, जिस प्रकार वेश्या लोगों को अपनी ओर आकृष्ट कर धनार्जन के लिये समय-समय पर लोगों की रुचि के अनुसार विविध प्रकार के रूप बनाती है उसी प्रकार राजनीति भी लोगों पर शासन करने के लिये, उन पर अपना प्रभुत्व बनाये रखने के लिये और कोपवृद्धि के लिये कभी सत्य स्वरूप वाली और कभी असत्य स्वरूप वाली अर्थात् कपट रूपिणी भी हो जाती है। राजनीतिज्ञ पुरुष का व्यवहार कभी एकसा नहीं रहता, अपना प्रभुत्व और शासन बनाये रखने के लिये वह कभी झूठ बोलता, कभी सत्य बोलता है, कभी अधिक खर्च करता है और कभी अधिकाधिक धन प्राप्ति करना चाहता है, वही कभी बड़ा धनलोलुप बन जाता है और कभी उदार बन कर लोगों की सहायता भी करता है, कभी वह हिंसक पशु की भाँति घातक बन जाता है, तो कभी पर मदयालु भी। अतएव वह बहुरूपिया कहा जाता है, समय-समय पर वह अपना रूप एवं व्यवहार बदलता रहता है। वस्तुतः राजनीति निपुण व्यक्ति का अथवा राजा का काम एक समान नीति से चल भी नहीं सकता, कूटनीति के बिना राज्य का चलाना कठिन हो जाता है। अतः जो राजा वेश्या की तरह रूप बदलते रहते हैं, वेश्या रूपिणी बहुरंगा नीति से काम लेते हैं उनका ही राज्य रहता और बढ़ता है। राजा चाहे जितना धार्मिक ही क्यों न हो उसे कूटनीति का आश्रय लेना ही पड़ता है। भगवान् श्री कृष्ण भी अपने समय के उच्चकोटि के राजनीतिज्ञ थे।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में भी शिखरिणी छन्द है।

प्रसंग—गुणवान् राजा की ही उपासना करनी चाहिये निर्गुण की नहीं, इसी भाव को प्रकट करता हुआ कवि कहता है—

आज्ञा कीर्तिः पालनं ब्राह्मणानां,
दानं भोगो मित्र संरक्षणं च।
येषामेते षड् गुणाः न प्रवृत्ताः
कोऽर्थस्तेषां पार्थिवोपाश्रमेण ॥४०॥

अन्वय—आज्ञा कीर्तिः ब्राह्मणनाम् पालनम् दानम् भोगः मित्रसंरक्षणम् च एते षड् गुणाः येषाम् न प्रवृत्ताः तेषाम् हे पार्थिव ! उपाश्रयेण कः अर्थः।

शब्दार्थ—आज्ञा=मर्यादा पालनात्मक शासन अर्थात् ऐसा अनुशासन जिससे लोग लोक मर्यादा का यथावत् पालन करते रहें, कीर्तिः=लोक संरक्षणात्मक एवं धर्म दानात्मक यश, ब्राह्मणानाम् पालनम्=ब्रह्मवेत्ता विद्वानों की रक्षा करना, विद्या गुणग्राही होना। दानम्=सत्पात्र में दान देना, भोगः=अर्जित धन से अपने और दूसरों के लिये सुख के साधन उत्पन्न करना। प्रते षड् गुणाः=ये छः गुण, येषाम्=जिन राजाओं मे, न प्रवृत्ताः =नहीं प्रवृत्त हुये हैं, अर्थात् जिन राजाओं में ये गुण नहीं पाये जाते हैं, हे पार्थिव=राजन्, तेषाम्=उन राजाओं के, उपाश्रयेण=उपासना या सेवा से, कोऽर्थः=क्या लाभ अर्थात् कुछ भी नहीं।

अनुवाद—लोक मर्यादा परिपालनात्मक अनुशासन, शौर्य एवं प्रजापालनात्मक कीर्ति, ब्रह्मज्ञ विद्वानों का परिपालन, दानशीलता, धन का उपभोग और मित्र बन्धुओं का संरक्षण, ये छः गुण जिन राजाओं में नहीं पाये जाते, हे राजन्, उनकी सेवा से क्या लाभ? अर्थात् उनकी सेवा करना व्यर्थ है।

भावार्थ—इन उक्त छः गुणों से विशिष्ट राजा की ही सेवा करनी चाहिये, जहाँ इन गुणों का अभाव है वहाँ उस राजा की सेवा व्यर्थ है। कवि राजा को उपदेश देता हुआ कहता है कि राजाओं में यदि ये गुण होते हैं तब ही प्रजाजन उसकी सेवा करते हैं अन्यथा नहीं, अतः यदि राजा प्रजाजनों से सेवा चाहता है तो उसे इन गुणों से विशिष्ट होना चाहिये।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में शालिनी नामक छन्द है, जिसका लक्षण—"शालिन्युक्ता म्तौ तगौ गोऽब्धिलोकैः" है। आज्ञा के स्थान पर 'विद्या' भी पाठान्तर है।

प्रसंग—लाभालाभ दैवाधीन होता है, यह समझ कर मनुष्य को धनवानों के सामने अपनी वृत्ति को कृपण न बनाना चाहिये, जितना अपने भाग्य में होगा, उतना ही मिलेगा फिर दीनता प्रकट करने से क्या लाभ? इसी भाव को प्रकट करता हुआ कवि कहता है—

यद्धात्रा निजभालपट्टलिखितं स्तोकं महद् वा धनं,
तत्प्राप्नोति मरुस्थलेऽपि नितरां मेरौ च नातोऽधिकम्।
तद् धीरो भव वित्तवत्सु कृपणां वृत्तिं वृथा सा कृथाः,
कूपे पश्य पयोनिधावपि घटो गृह्णाति तुल्यं जलम्॥४१॥

अन्वय—धात्रा स्तोकम् महद् वा यद् धनं निजभालपट्टलिखितम् तत् (जनः) मरुस्थले अपि नितराम् प्राप्नोति, मेरौ च न अतः अधिकम् (लश्यते) तत् धीरः भव, वित्तवत्सु कृपणाम् वृत्तिम् वृथा मा कृथाः, पश्य, घटः कूपे पयोनिधौ अपि तुल्यम् जलम् गृह्णाति।

शब्दार्थ—धात्रा=विधाता के द्वारा, स्तोकं महद् वा=थोड़ा अथवा अधिक, यद् धनम्=जो धन, निजभालपट्टलिखितम्=अपने ललाटफलक पर लिख दिया गया है, तत्=उस धन को (मनुष्य) मरुस्थलेऽपि=मरुस्थल में भी, नितरां प्राप्नोति= अवश्य ही निरन्तर प्राप्त करता है मेरौ च नातोऽधिकम्=और सुमेरु पर्वत पर भी (जो कि सोने का माना जाता है) इससे अधिक नहीं (मिलता), तत्=इस कारण से, धीरो भव=धैर्यशाली सन्तोषी बनो, वित्तवत्सु=धनवानों के विषय में, कृपणां वृत्तिम्=अपनी वृत्ति को दीन, वृथा मा कृथाः=व्यर्थ में ही न बनाओ। पश्य=देखो, घटः=घड़ा, कूपे पयोनिधौ अपि=कुये में और समुद्र में भी (जाकर) तुल्यं जलं गृह्णाति=बराबर ही जल ग्रहण करता है।

अनुवाद—विधाता ने थोड़ा अथवा बहुत जो धन अपने ललाट-फलक पर लिख दिया है उसे (मनुष्य) मरुस्थल में भी अवश्य प्राप्त कर लेता है, पर सुमेर पर्वत पर भी (पहुँच कर उसे) इससे अधिक नहीं मिलता, इस लिये धैर्यवान् और सन्तोषी बनो, धनवानों के विषय में व्यर्थ में अपनी वृत्ति को दीन मत बनाओ, देखो, घड़ा, कुये में अथवा समुद्र में भी (पहुँचकर) बराबर ही जल ग्रहण करता है, न कम न अधिक अर्थात् घड़े में जितना जल समा सकता है उतना ही उसे मिलेगा चाहे वह थोड़े जल वाले कुये से ग्रहण करे अथवा जलराशि वाले समुद्र से ग्रहण करे।

भावार्थ—मनुष्य को उतना ही धन मिलेगा जितना उसके भाग्य में होगा इससे न कम और न इससे अधिक, चाहे वह मरुस्थल में रहे और चाहे स्वर्ण पर्वत सुमेरु पर ही रहे। जब यही बात है कि भाग्य से अधिक नहीं मिल सकता तब धनवानों के सामने धन के लालच से अपनी दीनता प्रकट करना सर्वथा व्यर्थ है। कवि ने अन्तिम पंक्ति में इसी बात को घट के उदाहरण से सिद्ध किया है, घड़ा चाहे कुये में जाय चाहे समुद्र में, उसे जल तो उतना ही मिलेगा जितना जल ग्रहण करने के लिये उसे बनाया गया है,

इसी प्रकार मनुष्य को धन तो उतना ही मिलेगा जितना धन उसके भाग्य में लिखा गया है।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में शार्दूल विक्रीडित छन्द है।

(अथदुर्जन पद्धतिः)

धनाढ्य भी दुर्जन होने पर परिहर्तव्य ही हैं अतएव अर्थ पद्धति के निरूपण के बाद दुर्जन पद्धति का वर्णन किया जा रहा है।

प्रसंग—दुर्जनों के अवगुण बतलाता हुआ कवि कहता है :—

अकरुणत्वमकारणविग्रहः,
परधने परयोषिति च स्पृहा।
सुजनबन्धुजनेष्वसहिष्णुता,
प्रकृति सिद्धमिदं हि दुरात्मनाम् ॥४२॥

अन्वय—अकरुणत्वम् अकारणविग्रहः परधने परयोषिति च स्पृहा, सुजनबन्धुजनेषु असहिष्णुता, इदम् हि दुरात्मनाम् प्रकृति सिद्धम।

शब्दार्थ—अकरुणत्वम्=दूसरों के दुःख को दूर करने करने की इच्छा ही करुणा है, इस करुणा से रहित होना ही अकरुणत्व है। अकारण विग्रहा= विना किसी कारण के ही कलह करना, परधने परयोषिति च स्पृहा= दूसरे के धन पर और दूसरे की पत्नी पर इच्छा करना या लालायित होना, सुजनबन्धुजनेषृ असहिष्णुता=सज्जनों और अपने बन्धुजनों पर असहनशीलता दिखाना, दुरात्मना मिदं हि प्रकृतिसिद्धम्=दुर्जनों के लिये यह सब स्वभाव सिद्ध ही है, अर्थात् दुर्जनों का ऐसा स्वभाव ही होता है।

अनुवाद—दया हीनता, बिना कारण कलह करना, दूसरों के धन और स्त्री पर लालायित होना, सज्जनों एवं वन्धुजनों पर असहनशीलता प्रकट करना, यह सब दुर्जन लोगों के लिये स्वभाव सिद्ध ही होता है, अर्थात् दुर्जनों में उक्त दुर्गुण जन्म जात ही होते हैं।

भावार्थ—दुर्जनों में अकरुणता आदि दुर्गुण जन्मजात होते हैं, उन्हें इन दुर्गुणों को सीखना नहीं पड़ता। वे अपने बन्धुजनों पर और सज्जनों पर सदा असहनशील रहते हैं, उनकी अच्छी भी बातों को या कार्यों को वे सहन नहीं कर सकते, निष्कारण कलह, निर्दयता, परधन एवं परस्त्री की लालसा उनमें स्वभावतः ही हाती है, अतः धनाढ्य तथा विद्यालंकृत होने पर भी दुर्जन परिहेय ही होता है।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में द्रुत विलम्बित नामक छन्द है, जिसका लक्षण—"द्रुत विलम्बित माह नभौ भरौ" है।

प्रसंग—विद्वान् भी दुर्जन होने पर परिहेय होता है, इसी बात का निर्देश करता हुआ कवि कहता है :—

दुर्जनः परिहर्तव्यः, विद्ययालंकृतोऽपि सन् ।
मणिना भूषितः सर्पः, किमसौ न भयङ्करः॥४३॥

अन्वय—दुर्जनः विद्यया अलंकृतः अपि सन् परिहर्तव्यः, मणिना भूषितः सर्पः किम् असौ भयङ्करः न (भवति)।

शब्दार्थ—दुर्जनः=दुरात्मा, विद्यया—वेदवेदांगात्मक विद्या से, अलंकृतः अपि सन्=सुशोभित होकर भी, परिहर्तव्यः=दूर करने योग्य ही है। मणिना=नाग मणि से, भूषितः=अलंकृत, सुन्दर सर्पः=नाग, किमसौ न भयंकरः=क्या यह भयानक नहीं होता ?

अनुवाद—दुर्जन वेदवेदांग विद्या से सुशोभित होकर भी दूर रखने योग्य ही होता है। नागमणि से आभूषित भी सर्प क्या भयानक नहीं होता, अर्थात् मणि रखने वाला सर्प मणि से शोभित होता हुआ वस्तुतः भयानक ही होता है, अतएव वह परिहर्तव्य ही होता है।

भावार्थ—दुर्जन विद्या और धन प्राप्त करके भी अपनी स्वभाव सिद्ध दुर्जनता नहीं छोड़ता अतः वह सदा परिहर्तव्य ही होता है। कवि ने इसी बात की पुष्टि के लिये सर्प का उदाहरण दिया है। सर्प में नागमणि होता है। इतना सुन्दर मणि रखने पर भी वह स्वभावतः दूसरों को दुःख पहुँचाने वाला ही होता है और विषैला होने के कारण भयानक भी होता है, अतः वह दुर्जन की भाँति ही परिहरणीय होता है। किसी को विद्वान् या धनवान् देखकर सहसा उस पर विश्वास न कर लेना चाहिए, उसके स्वभाव की परीक्षा के बाद ही उसे भला या बुरा समझना चाहिये।

वस्तुतः स्वभाव सर्वोपरि होता है, विद्या से स्वभाव नहीं बदलता क्योंकि "अतीत्य हि गुणान् स्वभावो मूर्ध्नि वर्तते"।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में दृष्टान्तालंकार है और अनुष्टुप् छन्द है।

प्रसंग—दुर्जन, सज्जनों के सद्गुणों के भी निन्दक होते हैं, इसी भाव को प्रकट करता हुआ कवि कहता है—

जाड्यं ह्रीमति गण्यते व्रतशुचौ दम्भः शुचौ कैतवं,
शूरे निर्घृणता मुनौ विमतिता दैन्यं प्रियालापिनि ।
तेजस्वि न्यवलिप्तता मुखरता वक्तव्यशक्तिस्थिरे,
तत् को नाम गुणो भवेत् स गुणिनां यो दुर्जनैर्नाङ्कितः ॥४४॥

अन्वय—ह्रीमति जाड्यंम्, गण्यते, व्रतशुचौ दम्भः (गण्यते) शुचौ कैतवम् (गण्यते) शूरे निर्घृणता, मुनौ विमतिता, प्रियालापिनि दैन्यम्, तेजस्विनि अवलिप्तता, वक्तव्यशक्ति स्थिरे मुखरता, (गण्यते) तत् गुणिनाम् कः नाम स गुणः भवेत् यः दुर्जनैः अंकितः न भवेत ।

शब्दार्थ— ह्रीमति = लज्जाशील व्यक्ति पर, जाड्यं गण्यते = (दुर्जनों द्वारा) जड़ता या मन्दता गिनी जाती है अर्थात् लज्जाशील व्यक्ति को दुर्जन मूर्ख कहते हैं या मानते हैं । व्रतशुचौ = व्रतोपवासादि नियम पालन से शुद्ध व्यक्ति पर पाखण्ड या दिखावा गिना जाता है, अर्थात् व्रतादि से परिशुद्ध व्यक्ति को पाखण्डी माना जाता है, कुत्रचित् 'व्रतरुचौ' इत्यपि पाठः वहां व्रतादिनियम में रुचि रखने वाला अर्थ होता है, शुचौ कैतवम् = स्वभावतः बाह्याभ्यन्तर से पवित्र व्यक्ति पर कपट समझा जाता है अर्थात् दुर्जन पवित्रात्मा को कपटी मानते हैं । शूरे निर्घृणता = शौर्यशाली व्यक्ति पर दयाशून्यता गिनी जाती है अर्थात् शूरवीर को निर्दय माना जाता है । मुनौ विमतिता = मननशील व्यक्ति पर बुद्धि हीनता आरोपित की जाती है अर्थात् मनन शील अतएव चुप रहने वाले व्यक्ति को बुद्धिहीन समझा जाता है । प्रियालापिनि दैन्यम् = मधुर बोलने वाले व्यक्ति पर दैन्यता आरोपित की जाती है । तेजस्विनि अवलिप्तता = तेजस्वी व्यक्ति को घमण्डी माना जाता है, वक्तव्यशक्तिस्थिरे मुखरता— कथनीय पदार्थों के विषय में सामर्थ्य विशेष से स्थिरचित्त व्यक्ति पर असम्बद्ध प्रलापिता आरोपित की जाती है अर्थात् अभिधेय विषयों में प्रतिभा के द्वारा स्थिरमति पुरुष को अम्बद्ध प्रलापी बकवाद करने वाला माना जाता है (कुत्रचित् 'वक्तर्यशक्तिः स्थिरे, इत्यपि पाठः वहाँ इसका अर्थ है दृढ वक्ता को शक्तिहीन माना जाता है) तत् = इस कारण से, गुणिनां स कः नाम गुणो भवेत् = गुणवानों का वह कौन सा गुण होगा, यः दुर्जनैः न अंकितः, भवेत् = जो दुर्जनों के द्वारा कलंकित न किया गया हो ।

अनुवाद—(दुर्जनों के द्वारा) लज्जाशील व्यक्ति पर जड़ता, व्रतोपवासादि नियम पालन से परिशुद्ध व्यक्ति पर पाखण्ड पवित्रात्मा पर कपटता

शूरवीर पर निर्दयता, मननशील व्यक्ति पर बुद्धिहीनता, प्रियभाषी पर दीनता, तेजस्वी पर गर्वलिप्तता, वक्तव्य शक्ति सम्पन्न व्यक्ति पर असम्बद्ध प्रलापिता आरोपित की जाती है, (अतः) गुणी जनों का वह कौन सा गुण होगा जो दुर्जनों के द्वारा कलंकित न किया गया हो, अर्थात् सज्जनों का ऐसा कोई भी सद्गुण न होगा जिसे दुर्जनों ने दुर्गुण न कहा हो, उनकी दृष्टि में सभी सद्गुण दुर्गुण ही होते हैं।

भावार्थ—दुर्जन अपने स्वभाववश सज्जनों के सद्गुणों की भी निन्दा करते हैं और उनके गुणों को पाखण्ड एवं अहितकर बतलाते हैं। इसका कारण यह कि दुर्जनों को सज्जनों से स्वाभाविक वैर होता है, जिस तरह मूर्ख पण्डितों से, दरिद्री धनियों से, व्यभिचारिणी कुलस्त्रियों से और विधवा सधवाओं से सदा जलती रहती है उसी प्रकार दुर्जन सज्जनों से जला करते हैं फलतः वे उनकी निन्दा किया करते हैं।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में शार्दूल विक्रीडित छन्द है।

प्रसंग—गुण और अवगुणों को बतलाता हुआ कवि उनके ग्रहण करने का निर्देश करता हुआ कहता है—

लोभश्चेदगुणेन किं पिशुनता यद्यस्ति किं पातकैः,
सत्यं चेत्तपसा च किं शुचि मनो यद्यस्ति तीर्थेन किम्
सौजन्यं यदि किं जनेन महिमा यद्यस्ति किं मण्डनैः,
सद्विद्या यदि किं धनैरपयशो यद्यस्ति किं मृत्युना ॥४५॥

अन्वय—लोभः चेत् अगुणेन किम्, पिशुनता यदि अस्ति पातकैः किम्, सत्यम् चेत् तपसा च किम्, मनः यदि शुचि अस्ति तीर्थेन किम्, यदि सौजन्यम् (अस्ति) जनेन किम् यदि महिमा अस्ति मण्डनैः किम्, यदि सद्विद्या (अस्ति) धनैः किम्, यदि अपयशः अस्ति मृत्युना किम्।

शब्दार्थ—लोभः चेत्=यदि लोभ (है) तो, अगुणेन किम्=दुर्गुण से क्या अर्थात् कोई प्रयोजन नहीं क्योंकि लोभ ही सबसे बढ़ा दुर्गुण है। पिशुनता=चुगलखोरी, पातकैः=पापों से, शुचि=पवित्र सौजन्यम्=सज्जनता, जनेन=परिजनों से, मण्डनैः=अलंकरणों से, सद्विद्या=सर्व दोषों से रहित विद्या, अपयशः=अकीर्ति निन्दा।

अनुवाद—यदि लोभ (है) तो (अन्य) दुर्गुण से क्या अर्थात् कोई प्रयोजन नहीं, (क्योंकि लोभ ही अत्यन्त निन्दाजनक होता है), पिशुनता अर्थात् परोक्ष में दूसरे के दोषों का कथन करना, यदि है तो (अन्य) पापों से क्या ? (क्योंकि पिशुनता ही सब से बड़ा पातक है), यदि सत्य है तो तपस्या से क्या ? क्योंकि सत्यभाषण ही सब पापों का विनाशक तप है,) यदि मन राग द्वेषादि से रहित शुद्ध है तो पुण्यतीर्थों से क्या, (क्योंकि शुद्ध मन ही सबसे बड़ा तीर्थ है), सज्जनता यदि है तो परिजनों से क्या, (क्योंकि सज्जन के सभी लोग परिजन हो जाते हैं और उसके सभी कार्यों को पूरा कर देते हैं), यदि महिमा अर्थात् मनुष्य का अपना महत्त्व है तो अलंकरणों से क्या अर्थात् फिर उसे अपना महत्व प्रदर्शनार्थ अन्य अलकरण धारण करने की आवश्यकता नहीं । अनवद्या विद्या यदि है तो धनों से क्या (क्योंकि निर्दोष विद्या ही सकल भोग सम्पादिका होती है), यदि अपयश है तो मृत्यु से क्या ? अर्थात् यदि मनुष्य का सर्वत्र अपयश फैला हुआ है तो उसका मर जाना ही अधिक अच्छा है ।

भावार्थ—उपर्युक्त श्लोक में वर्णित सत्य, तप, पवित्र मन, सज्जनता, महिमा, सद्विद्या आदि सद्गुणों को ही मनुष्य को अर्जित करना चाहिए, पिशुनता अपयश आदि दुर्गुणों को नहीं ।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में भी पूर्वोक्त ही छन्द है ।

प्रसंग—कोई अनुभवी व्यक्ति अपने कष्टों का वर्णन करता हुआ कहता है—

शशी दिवसधूसरो गलितयौवना कामिनी,
सरो विगतवारिजं मुखमनक्षरं स्वाकृतेः ।
प्रभु र्धनपरायणः सततदुर्गतः सज्जनः,
नृपाङ्गणगतः खलो मनसि सप्त शल्यानि मे ॥४६॥

अन्वय—दिवसधूसरः शशी, गलितयौवना कामिनी, विगतवारिज सरः, स्वाकृतेः अनक्षरम् मुखम्, धनपरायणः प्रभुः, सततदुर्गतः सज्जनः, नृपाङ्गणगतः खलः, मे मनसि सप्तशल्यानि ।

शब्दार्थ—दिवसधूसरः शशी=दिन में निस्तेज चन्द्रमा, गलित-यौवना कामिनी=यौवनहीन कामिनी, विगत वारिज सरः=कमल विहीन सरोवर, स्वाकृतेः अनक्षरं मुखम्=सुन्दर आकृति वाले पुरुष का अक्षरज्ञान रहित या

विद्याविहीन मुख, धन लोभी राजा, निरन्तर दरिद्री या धनहीन सज्जन पुरुष, नृपाङ्गणगत: खल:=राज सभा या राजगृह में रहने वाला दुर्जन, सप्त मे मनसि शल्यानि=ये सात मेरे मन में शल्य हैं अर्थात् बाणाग्रभाग की तरह अथवा कांटे की तरह चुभने वाले हैं ।

अनुवाद—दिन में तेज हीन चन्द्रमा, यौवन रहित कामिनी, कमलरहित सरोवर, सुन्दर पुरुष का विद्याविहीन मुख, धन का लोभी राजा निरन्तर धनहीन सज्जन, राजसभा में रहने वाला दुर्जन, ये सात मेरे मन में काँटे की भाँति चुभते है अर्थात् अति कष्टप्रद हैं ।

भावार्थ—चन्द्र, कामिनी, सरोवर और सुन्दर पुरुष की शोभा क्रमशः तेज, यौवन, कमल और विद्या से होती है । इनके अभाव में ये देखने वालों को कष्ट प्रद ही होते हैं । विद्वान् की धनाभाव से दुर्दशा, धनलोभी राजा और राजसभावर्ती दुर्जन भी इसी प्रकार कष्ट प्रद होते हैं ।

परमात्म सृष्टि में सभी कार्यों और पदार्थों में कुछ न कुछ दोष देखे जाते हैं और ये ही दोष कुशल जनों की दृष्टि में खटकते रहते हैं । यदि चन्द्र दिन में भी निस्तेज न होता, कामिनी सदा यौवनवती बनी रहती, सरोवर सदा कमलों से सुशोभित रहते, सुन्दर पुरुष विद्वान् भी होते, राजा उदार तथा सज्जन धनवान् होते, राज सभा में भी सभी सज्जन ही होते तो बहुत प्रसन्नता की बात थी पर संसार में यह सदा सम्भव नहीं होता ? ईश्वर की लीला ही ऐसी है; संसार सुख दुःख मय एवं परिवर्तन शील है ।

विशेष—यहाँ अप्रकृत चन्द्रादि तथा प्रकृत खल के दुःख हेतुत्व साम्य से औपम्य गम्य होने से दीपकालंकार है और पृथ्वी नामक छन्द है ।

प्रसंग—क्रोधी राजा का वर्णन करता हुआ कवि कहता है :—

न कश्चिच्चण्डकोपानामात्मीयो नाम भूभुजाम् ।
होतारमपि जुह्वानं, स्पृष्टो दहति पावकः ॥४७॥

अन्वय—चण्डकोपानाम् भूभुजाम् कश्चित् (अपि) आत्मीयः नाम न (भवति) जुह्वानम् अपि होतारम् पावकः स्पृष्टः सन् दहति ।

शब्दार्थ—चण्डकोपानाम् = उग्रक्रोधी, भूभुजाम् = राजाओं का, कश्चिदपि आत्मीयो नाम न=कोई भी आत्मीय (अपना व्यक्ति) नहीं होता अर्थात् उनके सभी अनात्मीय ही होते हैं । जुह्वानम्=हवन करते हुये

होतारम्=होता को, पावकः=अग्नि, स्पृष्टः सन्=छू जाने पर, दहति=जला देता है।

अनुवाद—उग्र क्रोधी राजाओं का कोई भी आत्मीय (अपना) नहीं होता अर्थात् उनके सभी लोग अनात्मीय (परकीय) ही होते हैं (यदि यह कहा जाय कि अच्छा आचरण करने पर वह कभी न कभी आत्मीय बन ही जायेगा ? तो कवि इसके उत्तर में कहता है कि ऐसा कदापि सम्भव नहीं, क्योंकि) हवन करने वाले भी होता को अग्नि छू जाने पर जला ही देता है।

भावार्थ—क्रोधी राजा का भूल कर भी विश्वास न करना चाहिये। अग्नि जिन प्रकार हवन करने वाले को भी जला देती है उसी प्रकार अति क्रोधी राजा अपने बन्धुजनों को भी नहीं छोड़ता, उन्हें भी दण्ड देता ही है। अतः अग्नि और राजा से सदा सबको दूर ही रहना चाहिये क्योंकि इनका आत्मीय कोई भी नहीं होता, दोनों का स्वभाव एक-सा ही होता है। जो इन पर विश्वास कर लेते हैं, वे अन्त में विनष्ट ही होते हैं, ठीक ही कहा गया है "राजा मित्रं केन दृष्टं श्रुतं वा"।

प्रसंग—राज सेवा की दुष्करता को बतलाता हुआ कवि कहता है—

मौनान्मूकः प्रवचनपटु र्वाचको जल्पको वा,
धृष्ठः पार्श्वे भवति च वसन् दूरतोऽप्यप्रगल्भः।
क्षान्त्या भीरु र्यदि न सहते प्रायशो नाभिजातः,
सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ॥४८॥

अन्वय—(सेवको) मौनात् मूकः, प्रवचनपटुः वाचाकः (कुत्रचित् चाठुक इत्यपि पाठः) जल्पकः वा, पार्श्वे च वसन् धृष्ठः भवति, दूरतः वसन् अप्रगल्भः अपि (भवति) क्षान्त्या भीरुः, यदि न सहते 'तर्हि' प्रायशः अभिजातः न भवति (अतः) परमगहनः सेवाधर्मः योगिनाम् अपि अगम्यः भवति।

शब्दार्थ—मौनात् मूकः=मौन रहने से मूक (कहा जाता है) प्रवचनपटुः वाचकः जल्पकः वा=अच्छा स्पष्ट वक्ता (यदि है तो) बहुभाषी अथवा असम्बद्ध प्रलापी (होता है) पार्श्वे वसन् च धृष्ठः भवति=और पास में रहता हुआ निर्भीक होता है। दूरतः (वसन्) अप्रगल्भः भवति=दूर रहता हुआ वह अप्रौढ़ न बोल सकने वाला होता है। क्षान्त्या भीरुः=क्षमाशीलता से वह डरपोक (कहा जाता है) यदि न सहते=परिभव आदि को यदि वह नहीं सहता है तो प्रायशः अभिजातः न (भवति)=तो वह प्रायः सत्कुलोत्पन्न

नहीं होता। परम गहनः सेवा धर्मः=परम दुःसाध्य सेवावृत्ति, योगिनामप्यगम्यः=योगियों के लिये भी जानने योग्य नहीं होती।

अनुवाद—चुपचाप रहने से (सेवक) मूक (कहा जाता है) अच्छा स्पष्ट वक्ता यदि वह है तो बाचाल-बहुभाषी अथवा असम्बद्ध प्रलापी (होता है) और पास में रहता हुआ वह निर्भीक होता है, दूर रहता हुआ वह अप्रौढ-न कुछ कह सकने वाला भी (कहा जाता है) क्षमाशीलता से वह डरपोक (कहा जाता है) यदि वह परिभव आदि को नहीं सहता है तो प्रायः वह सत्कुलोत्पन्न नहीं माना जाता है। (अतः) परम दुःसाध्य सेवाधर्म योगियों के लिए भी जानने योग्य नहीं होता।

भावार्थ—वस्तुतः राजाओं अथवा अन्य धनीजनों की सेवा करना परम दुःसाध्य कार्य होता है। तत्त्व वेत्ता अतीन्द्रिय पदार्थों का भी ज्ञान रखने वाले त्रिकालदर्शी योगीजन भी इस सेवा धर्म का निर्वाह नहीं कर सकते, तब साधारण लोगों की तो बात ही क्या है! सब कुछ अच्छा करता हुआ भी सेवक सदा निन्द्य एवं उपहासास्पद होता है। यदि वह शालीनतावश चुपचाप रहता है तो उसे गूँगा कहा जाता है, यदि वह अच्छा प्रवक्ता होता है तो उस सेवक को वाचाल अथवा असम्बद्ध प्रलापी कहा जाता है, यदि वह सदा स्वामी के पास ही रहता है तो उसे निर्भीक अथवा उद्दण्ड कहा जाने लगता है। यदि वह क्षमाशीलता से व्यवहार करता है तो उसे डरपोक कहा जाता है और यदि वह अपने तिरस्कार को नहीं सहता तो उसे नीलकुलोपन्न माना जाने लगता है। तात्पर्य यह है कि सेवक चाहे जिस प्रकार व्यवहार करे पर वह सदा निन्दनीय ही होता है, स्वामी को प्रसन्न रखना बड़ा कठिन होता है, अतएव सेवाधर्म को गहन एवं अगम्य कहा गया है।

विशेष—यहाँ असम्बन्ध रूपातिशयोक्ति है और मन्दाक्रान्ता नामक छन्द है, जिसका "लक्षण मन्दाक्रान्ता जलधिषडगैर्मा भनौ तौ गयुग्मम्" है।

प्रसंग—दुष्ट, निरंकुश और दुराचारी के अधीन रहकर कोई भी सुखी नहीं रह सकता इसी भाव को प्रकट करता हुआ कवि कहता है—

उद्भासिताखिलखलस्य विशृङ्खलस्य,
प्राग्जात (प्रौद्गाढ) विस्मृतनिजाधमकर्मवृत्तेः।
दैवादवाप्तविभवस्य गुणद्विषोऽस्य,
नीचस्य गोचरगतैः सुखमास्यते कैः ॥४९॥

अन्वय—उद्‌भासिताखिलखलस्य विशृङ्खलस्य प्राग्जातविस्मृतनिजाधमकर्मवृत्तेः दैवाद् अवाप्तविभवस्य अस्य गुणद्विषः नीचस्य गोचरगतैः कैः सुखम् आस्यते ।

शब्दार्थ—उद्‌भासिताखिलखलस्य=जिसने (अधिकार एवं पुरस्कार देकर) बहुत से दुर्जनों को प्रकाशित कर दिया है अर्थात् जो दुष्टों का आश्रयदाता एवं महादुष्ट है। विशृङ्खलस्य=विधिनिषेध को न मानने वाला उच्छृङ्खल, प्राग्जातविस्मृत निजाधनकर्मवृत्तेः=जो कि पूर्व जन्म के अपने नीच कर्म व्यापार को भूल चुका है। दैवात् अवाप्तविभवस्य=जिसे दैव योग से ऐश्वर्य सम्पत्ति मिल गई है, गुणद्विषः=गुणों से द्वेष रखने वाले, अस्य नीचस्य=इस नीच पुरुष के, गोचरगतैः कैः सुखम् आस्यते=दृष्टिपथ में आने वाले अथवा इसके अधीन रहने वाले किन लोगों द्वारा सुख पूर्वक रहा जाता है अर्थात् किसी के भी द्वारा नहीं।

अनुवाद—(पुरस्कार एवं अधिकार देकर) अनेक दुर्जनों को बढ़ाने वाले, उच्छृङ्खल, पूर्वजन्म के अपने नीच कर्म व्यापार को भूल जाने वाले, दैवयोग से ऐश्वर्य सम्पत्ति को प्राप्त कर लेने वाले, गुणों से द्वेष रखने वाले इस नीच पुरुष के आश्रय में रहने वाले किन लोगों के द्वारा सुख पूर्वक रहा जाता है अर्थात् ऐसे नीच पुरुष के अधीन रहकर कोई भी सुख से नहीं रह सकता।

भावार्थ—जो दुर्जनों का ही आश्रयदाता है, गुणद्वेषी है, जो अपने पूर्वजन्म के बुरे कर्मों को भूल चुका है और दैवयोग से सम्पत्तिशाली बन गया है ऐसे नीच धनीजन की सेवा में कोई भी सुख से नहीं रह सकता है, अतः ऐसे नीच की सेवा न करनी चाहिये।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में पदार्थ हेतुक काव्यलिङ्ग अलंकार तथा वसन्ततिलका छन्द है।

प्रसंग—दुर्जन तथा सुजन की मैत्री का भेद बतलाता हुआ कवि कहता है—

आरम्भगुर्वी क्षयिणी क्रमेण,
लघ्वी पुरा वृद्धिमती च पश्चात्।
दिनस्य पूर्वार्धपरार्धभिन्ना,
छायेव मैत्री खलसज्जनानाम् ।५०।।

अन्वय—खलसज्जनानाम् मैत्री दिनस्य पूर्वार्धपरार्धभिन्ना छाया इव आरम्भगुर्वी क्रमेण क्षयिणी, पुरा लघ्वी पश्चात् च वृद्धिमती (भवति)

शब्दार्थ—खलसज्जनानां मैत्री=दुर्जनों और सज्जनों की मित्रता, दिनस्य पूर्वार्धभिन्न=दिन के पूर्वार्ध (दोपहरी-मध्याह्न के पूर्व का भाग) और परार्ध (मध्याह्न के बाद का भाग) के भेद से भिन्न स्वरूपा, छायेव=छाया की भाँति, आरम्भगुर्वी=प्रारम्भिक काल में बढ़ने वाली, क्रमेण क्षयिणी=क्रम से क्षीण हो जाने वाली, पुरा लघ्वी=पहले थोड़ी या छोटी, पश्चात् च वृद्धिमती=और बाद में बढ़ने वाली।

अनुवाद—दुर्जनों और सज्जनों की मित्रता, दिन के पूर्वाह्‌ण और अपराह्‌ण के भेद से भिन्न स्वरूप वाली छाया की भांति, आरम्भ में बढ़ने वाली, पहिले बहुत थोड़ी और बाद में अधिक बढ़ जाने वाली होती है।

भावार्थ—सज्जनों की मित्रता तथा दुर्जनों की मित्रता में परस्पर बड़ा अन्तर होता है, जिस प्रकार दिन के पूर्वार्ध की छाया और दिन के परार्ध की छाया में अन्तर रहता है उसी प्रकार दुर्जनों और सज्जनों की मित्रता में भी अन्तर होता है। जिस प्रकार दोपहर से पहले की छाया आरम्भकाल में बढ़ने वाली अर्थात् बड़ी होती है और क्रमशः वही क्षीण होने वाली अर्थात् दोपहर बाद क्षणक्षण घटती जाती है। उसी प्रकार दुर्जनों की मैत्री पहले तो उत्तरोत्तर बढती जाती है पर कालान्तर में वही क्षीण भी होने लगती है। पर सज्जनों की मैत्री इससे भिन्न प्रकार की होती है। वह तो दोपहर के बाद की छाया के समान पहिले थोड़ी और पीछे क्रम क्रम से बढ़ने वाली होती है। कवि का कथन है कि हमें सज्जनों की मित्रता ही अपनानी चाहिये जो कि उत्तरोत्तर बढ़ने वाली होती है, दुर्जनों की मित्रता नहीं जो कि क्षणिक होती है।

विशेष—यहाँ यथासंख्याकीर्ण उपमालंकार तथा उपजाति छन्द है।

प्रसंग—दुर्जन अकारण बैर करने वाले होते हैं, इसी बात को प्रकट करता हुआ कवि कहता है—

मृगमीनसज्जनानां तृणजलसन्तोषविहितवृत्तीनाम्।
लुब्धक धीवरपिशुना निष्कारण मेव वैरिणो जगति ॥५१॥

अन्वय—तृणजलसन्तोषविहितवृत्तीनां मृगमीनसज्जनानाम् लुब्धकधीवरपिशुना जगति निष्कारणमेव वैरिणः (सन्ति)

शब्दार्थ—तृणजलसन्तोषविहितवृत्तीनाम्=तिनके जल और सन्तोष से ही जीविका चलाने वाले, मृगमीनसज्जनानाम्=मृग मत्स्य और सज्जनों के, लुब्धक धीवर पिशुनाः=बहेलिया (व्याध) मछूये और चुगलखोर, जगति=संसार में, निष्कारणमेव=बिना कारण के ही, वैरिणः=शत्रु, भवन्ति।

अनुवाद—तिनके जल और सन्तोष से ही जीविका चलाने वाले क्रमशः मृग, मत्स्य और सज्जनों के, लुब्धक मछुये और चुगल खोर जगत् में अकारण ही शत्रु होते हैं।

भावार्थ—मृग तृणों से, मछली जल से और सज्जन सन्तोषमात्र से अपनी जीविका चलाने वाले होते हैं, दूसरों को कष्ट देकर या दूसरों की आर्थिक सहायता से स्वजीविका सम्पादित नहीं करते, फिर भी लुब्धक मृगों का वध करता हैं, मछुये मछलियों को पकड़ लेते हैं और चुगल खोर सज्जनों की निन्दा कर उनको कष्ट पहुँचाते हैं। यद्यपि मृग मीन और सज्जन किसी को कष्ट नहीं देते फिर भी लुब्धक धीवर और पिशुन इनके अकारण शत्रु बन जाते हैं। इसका कारण उनकी स्वाभाविक दुर्जनता ही है।

विशेष—तृणादि के साथ मृगादि का यथाक्रम वर्णन होने से इसमें क्रमापरनाम यथासंख्य अलंकार है जिसका लक्षण "उद्दिष्टानां पदार्थानां पूर्वं पश्चाद्यथाक्रमम्, अनुद्देशो भवेद्यत्र तद्यथासंख्यमुच्यते"। आर्या जाति छन्द है।

(अथ सुजन पद्धति)

दुर्जन पद्धति के विपरीत सुजन पद्धति का वर्णन अवसर प्राप्त होने से कवि यहां सज्जनों के व्यवहार का निरूपण कर रहा है।

प्रसंग—सज्जनों के प्रति विशेष आदर भाव प्रदर्शित करता हुआ उनके प्रति नमस्कार पूर्वक कवि उनका वर्णन करता है—

वाञ्छा सज्जनसंगतौ परगुणे प्रीति र्गुरौ नम्रता,
विद्यायां व्यसनं स्वयोषिति रति र्लोकापवादाद् भयम्
भक्तिः शूलिनि शक्ति रात्मदमने संसर्गमुक्तिः खलै—
रेते येषु वसन्ति निर्मलगुणा स्तेभ्यो महद्भ्यो नमः ॥५२॥

अन्वय—सज्जनसंगतौ वाञ्छा, परगुणे प्रीतिः, गुरौ नम्रता, विद्यायां व्यसनम्, स्वयोषिति रतिः, लोकापवादात् भयम्। शूलिनि भक्तिः, आत्मदमने

शक्तिः, खलैः संसर्गमुक्तिः, एते निर्मलगुणाः येषु वसन्ति तेभ्यः महद्भ्यः नमः (अस्तु)।

शब्दार्थ—सज्जन संगतौ वाञ्छा=सज्जनों की संगति में अभिलाषा, परगुणे प्रीतिः=दूसरे के गुणों पर प्रेम, गुरौ नम्रता=गुरु के विषय में नम्र व्यवहार, विद्यायां व्यसनम्=वेदान्तादि विद्या के अभ्यास में आसक्ति, लगन, स्वयोषिति रतिः=अपनी पत्नी पर अनुराग, लोकापवादात् भयम्=लोकनिन्दा से भय, शूलिनि परमदेवता भगवान् शिव पर भक्ति, आत्मदमने शक्तिः=आत्म संयम में शक्ति सामर्थ्य, खलैः संसर्गमुक्तिः=दुर्जनों के संसर्ग से दूर रहना, एते निर्मलगुणा येषु वसन्ति=ये निर्मल गुण जिन लोगों में रहते हैं, तेभ्यो महद्भ्यः नमः=उन महान पुरुषों को नमस्कार है।

अनुवाद—सज्जनों की संगति में अभिलाषा, दूसरों के गुणों पर प्रेम, गुरु के विषय में नम्रव्यवहार, विद्या में रुचि, अपनी पत्नी पर अनुराग, लोकनिन्दा से भय, भगवान् शिव पर भक्ति, आत्म, संयम में सामर्थ्य, दुर्जनों के संसर्ग से दूर रहना, ये निर्मल गुण जिनमें रहते हैं उन महान् पुरुषों को नमस्कार है।

भावार्थ—सज्जनों की संगति के लिये अभिलाषा होना न कि उनसे दूर रहना, क्योंकि साधु संसर्ग ही मोक्षद्वार है, जैसा कि कहा गया है 'मोक्षद्वारे द्वारपालाश्चत्वारः परिकीर्तिताः, शमो विचारः सन्तोष श्चतुर्थः साधुसंगमः।" दूसरों के सद्गुणों पर सन्तोष का होना, न कि दोष देखना, क्योंकि ऐसे थोड़े ही लोग होते हैं जो कि परगुणों के प्रशंसक तथा उनकी और बढ़ा कर बताने वाले होते हैं, यथोच्यते "परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य वित्यं निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः" विद्या का उपदेश देने वाले गुरु पर परम श्रद्धा एवं विनम्र व्यवहार करना, न कि गर्व करना, यथोच्यते 'यस्य देवे परा भक्ति र्यथा देवे तथा गुरौ" "गुरु र्ब्रह्मा गुरु विष्णु र्गुरु र्देवो महेश्वरः गुरुः साक्षात् पर ब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः"। वेदान्तादि विद्याभ्यास में आसक्ति, न कि द्यूतादि दुर्व्यसनों में, क्योंकि विद्या हो ऐहिक एवं पारलौकिक सुखों की साधिका है। अपनी पत्नी पर ही अनुराग रखना न कि परकलत्र पर। लोक निन्दा से सदा डरने रहना न कि निर्लज्ज बन जाना। परम देवता भगवान् शिव पर ही भक्ति रखना न कि भूत प्रेतादि की उपासना करना। आत्म

संयम के लिये सामर्थ्य होना न कि उससे उदासीन रहना, यथोच्यते "अन्यदा भूषणं पुसां शमो लज्जेव योषिताम्। पराक्रमः परिभवे वैयात्यं सुरतेस्विव"। दुर्जनों के संसर्ग का त्याग करना न कि उनका सहवास स्वीकार करना। ये निर्मल गुण जिन पुरुषों में पाये जाते हैं वे ही महापुरुष कहे जाते हैं अतः कवि सर्व प्रथम ऐसे महा पुरुषों को नमस्कार करता है।

विशेष—इसमें शार्दूल विक्रीडित छन्द है।

प्रसंग—सज्जनों के स्वभाव सिद्ध गुणों का निर्देश करता हुआ कवि कहता है—

विपदि धैर्य मथाभ्युदये क्षमा,
सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः।
यशसि चाभिरुचि र्व्यसनं श्रुतौ,
प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम् ॥५३॥

अन्वय—विपदि धैर्यम्, अथ अभ्युदये क्षमा, सदसि वाक्पटुता, युधि विक्रमः, यशसि च अभिरुचिः, श्रुतौ व्यसनम्, इदम् हि महात्मनाम् प्रकृति-सिद्धम्।

शब्दार्थ—विपदि धैर्यम्=विपत्तिकाल में धीरज रखना, अथाभ्युदये क्षमा=और सम्पत्ति काल में सहिष्णुता रखना, सदसि वाक्पटुता=सभा में वाग्मिता अर्थात् सरस गम्भीर वचन बोलने की चतुरता, युधि विक्रमः=युद्ध में पराक्रम दिखाना, यशसि च अभिरुचिः=अपनी कीर्ति के विषय में पूर्ण रुचि रखना, श्रुतौ व्यसनम्=वेदशास्त्रों के अभ्यास में आसक्ति-लगन का होना, महात्मनाम् इदम् हि प्रकृतिसिद्धम्=महानुभाव सुजनों के लिये यह सब अर्थात् इन सब गुणों का होना स्वभाव सिद्ध होता है।

अनुवाद—विपत्ति काल में धैर्य और सम्पत्तिकाल में सहिष्णुता, सभा में वाग्मिता, युद्ध में पराक्रम, कीर्तिसंग्रह में रुचि, विद्याभ्यास में आसक्ति, महानुभावों में ये सब गुण स्वभाव सिद्ध होते हैं अर्थात् उनमें ये गुण जन्मजात ही होते हैं उन्हें इनको अर्जित नहीं करना पड़ता।

भावार्थ—विपत्तिकाल में दृढ़चित्त लोगों का भी धैर्य छूट जाता है पर महा पुरुष उस समय भी धैर्यवान् बने रहते हैं। सम्पत्तिकाल में साधारण जन घमण्डी होकर दूसरों को तुच्छ समझने लगते हैं, किसी की बात उन्हें

सहन नहीं होती, पर महापुरुष अभ्युदयकाल में सहिष्णुता तथा क्षमाशील बने रहते हैं। ऐसे ही लोग विद्वत्सभा में वाग्मिता और युद्ध में वीरता दिखलाते हैं, विद्याभ्यास तथा कीर्ति के अर्जन में इनकी सदा रुचि रहती है। सज्जनों में ये सब गुण स्वाभाविक ही होते हैं।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में द्रुतविलम्बित छन्द है।

प्रसंग— महापुरुषों के अलंकरण प्रसिद्ध अलंकारों से विलक्षण ही होते हैं, इसी बात को कवि बतला रहा है—

करे श्लाघ्यस्त्यागः शिरसि गुरुपादप्रणयिता,
मुखे सत्या वाणी विजयि भुजयो वीर्यमतुलम्।
हृदि स्वच्छा वृत्तिः श्रुतमधिगतं च श्रवणयोः,
विनाप्यैश्वर्येण प्रकृतिमहतां मण्डनयिदत् ॥५४॥

अन्वय—करे श्लाघ्यः त्यागः, शिरसि गुरुपादप्रणयिता, मुखे सत्या वाणी, भुजयोः विजयि अतुलं बीर्यम्, हृदि स्वच्छा वृत्तिः श्रवणयोः च अधिगतं श्रुतम्, ऐश्वर्येण बिना अपि प्रकृतिमहताम् इदं मण्डनम्।

शब्दार्थ—करे श्लाघ्यः त्यागः=हाथ में सकल लोक प्रशस्त दान (ही मण्डन है) शिरसि गुरुपादप्रणयिता=शिर पर गुरु चरणों का अभिवादन, मुखे सत्या वाणी=मुख में सत्य वाणी, भुजयो; विजयि अतुलं वीर्यम्=भुजाओं में जयशील निपम बल; हृदि स्वच्छा वृत्तिः=हृदय में निष्कलंक व्यापार, श्रवणयोः अधिगतं श्रुतम्=कानों में पठित या अधीत शास्त्र, ऐश्वर्येण विना अपि=धन सम्पत्ति के विना भी; प्रकृति महताम्=स्वभाव से ही सौजन्य सम्पन्न लोगों के लिये, इदम् मण्डनम्=ये सब पूर्वोक्त दानादि भूषण हैं।

अनुवाद—हाथ में प्रशंसनीय दान (ही मण्डन है) शिर पर गुरुचरणों का अभिवादन, मुख में सत्य वाणी, भुजाओं में विजयशील निरुपम बल, हृदय में निष्कलंक व्यापार और कानों में अधीत शास्त्र ही मण्डन होता है, धन सम्पत्ति के बिना भी स्वभाव से ही सौजन्य सम्पन्न लोगों के लिए यह सब पूर्वोक्त दान आदि मण्डन (अलंकरण) होता है।

भावार्थ— वस्तुतः हाथ का आभूषण कङ्कण नहीं अपितु वह दान होता है जो कि लोक प्रशंसनीय हो, जैसाकि कवि ने आगे स्वयं कहा है "दानेन पाणिर्न तु कङ्कणेन"। शिर का अलंकरण मणिकिरीट आदि नहीं, अपितु

गुरु के चरणों का अभिवादन ही होता है। मुख का आभूषण ताम्बूल आदि नहीं, अपितु सत्य वाणी ही है। भुजाओं का आभूषण केयूर आदि नहीं, अपितु विजय शील अनुपम बल ही होता है। हृदय का आभूषण हार आदि नहीं अपितु निष्कलंक आचरण ही होता है और कानों का आभूषण कुण्डल आदि नहीं, अपितु अधीत शास्त्र ही होता है, जैसाकि कवि ने आगे कहा है "श्रोत्रं श्रुतेनैव न कुण्डलेन"। ये दान आदि ही स्वभाव सिद्ध महापुरुषों के लिये विना ही धन सम्पत्ति के आभूषण होते हैं, अर्थात् जिनके पास ये दानादि आभूषण होते हैं, उन्हें धन सम्पत्ति की आवश्यकता नहीं होती। धन सम्पत्ति तो नष्ट हो सकती है, पर ये आभूषण स्थायी होते हैं।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में शिखरिणी छन्द है।

प्रसंग—सद्‌गुणों का होना ही परम कल्याण मार्ग है, इसी बात का निर्देश करता हुआ कवि कहता है—

प्राणाघातान्निवृत्तिः परधनहरणे संयमः सत्यवाक्यं,
काले शक्त्या प्रदानं युवतिजनकथामूकभावः परेषाम् ।
तृष्णास्रोतोविभङ्गो गुरुषु च विनयः सर्वभूतानुकम्पा,
सामान्यं सर्वशास्त्रेष्वनुपहतविधिः श्रेयसामेष पन्थाः ॥५५॥

अन्वय—प्राणाघातात् निवृत्तिः, परधनहरणे संयमः, सत्यवाक्यम्, काले शक्त्या प्रदानम्, युवतिजत कथामूक भावः, परेषाम् तृष्णास्रोतोविभंगः, गुरुषु च विनयः, सर्वभूतानुकम्पा, सर्वशास्त्रेषु सामान्यम् अनुपहतविधिः च, एष श्रेयसाम् पन्थाः अस्ति।

शब्दार्थ—प्राणाघातात् निवृत्तिः=प्राणिहिंसा से दूर रहना, परधन हरणे संयमः=दूसरे के धन का अपहरण करने में अपने मन का निरोध, सत्य वाक्यम्=यथार्थ भाषण, काले शक्त्या प्रदानम्=समय पर यथा शक्ति दान देना, युवतिजनकथामूकभावः=युवतिजनों या पर स्त्रियों के वृत्तान्त कथन में मौनावलम्बन रखना, परेषाम् तृष्णास्रोतोविभंगः=दूसरों की अर्थात् याचकों की धनलिप्सा के प्रवाह का निरोध अर्थात् उनको इतना दान देना कि उनकी धन तृष्णा का प्रवाह बन्द हो जाय। गुरुषु च विनयः=गुरुजनों पर विनय शीलता, सर्वभूतानुकम्पा=सब प्राणियों पर अनुग्रह, सर्वशास्त्रेषु सामान्यम्=सम्पूर्णशास्त्रों में सामान्य व्यवहार अर्थात् सब शास्त्रों के सिद्धान्तों का अनुवर्तन करना, अनुपहत विधिः=स्थायी कर्मों का अनुष्ठान,

एष=यह गुणसमुदाय ही, श्रेयसां पन्थाः=अखण्डित ऐश्वर्य आदि का मार्ग है।

अनुवाद—प्राणिहिंसा से दूर रहना, दूसरों के धन का अपहरण करने में अपने मन का निरोध, यथार्थ भाषण, समय पर यथा शक्ति दान देना, युवतियों के वृत्तान्त कथन में मौन धारण करना, याचकों की धनलिप्सा के प्रवाह को बन्द करना, गुरुजनों पर विनयशीलता, सब प्राणियों का अनुग्रह, सर्वशास्त्रों के सिद्धान्तों का अनुसरण, स्थायी कर्मानुष्ठान, यह गुण समूह ही अनेक ऐश्वर्य आदि का मार्ग है।

भावार्थ—"मां हिंस्यात् सर्वभूतानि" "अहिंसा परमो धर्मस्त्वधर्मः प्राणिनां वध." इत्यादि वाक्यों के प्रमाण से सभी जीवों के वध से सदा दूर रहना ही कल्याण मार्ग है। परधन के अपहरण में अपने मनका निरोध कल्याण कर होता है, सामान्यतः मनुष्य पर द्रव्य के लिए लालायित रहता है, पर ऐसे समय मन का निरोध ही श्रेयस्कर होता है "पर द्रव्याणि लोष्ठवत्" ही समझना चाहिए। "सत्य वद धर्मं चर" इत्यादि वाक्य सत्य भाषण को ही कल्याणकर बतलाते हैं। यथा शक्ति दान देना भी श्रेयस्कर हैं। "स्वप्नेऽप्यन्य वधू कथाम्" इस उक्ति के अनुसार परस्त्री विषयक वार्तालाप के समय चुप रहना ही मंगलमय होता है। याचकों को इतना दान दिया जाना चाहिए कि उसके धन तृष्णा का प्रवाह ही सूख जाय अर्थात् जिससे वे फिर कभी धन के लिए लालायित ही न हों। गुरुजनों के साथ नम्र व्यवहार श्रेयस्कर होता है। सब प्राणियों पर दया तथा सब शास्त्रों के सिद्धान्तों का अनुवर्तन एवं स्थायी कार्यानुष्ठान, ये सब कल्याण माने गये हैं।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में स्रग्धरा नामक छन्द है जिसका लक्षण—स्रम्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्" है।

प्रसंग—आपत्ति और सम्पत्ति के समय सुजनों को मनोवृत्ति का निर्देश करता हुआ कवि कहता है—

सम्पत्सु महतां चित्तं भवे दुत्पलकोमलम्।
आपत्सु च महाशैलशिलासंघातकर्कशम् ॥५६॥

अन्वय—सम्पत्सु महताम् चित्तम् उत्पलकोमलम् भवेत्, आपत्सु च महाशैलशिलासंघातकर्कशम् (भवति)।

शब्दार्थ—सम्पत्सु=सम्पत्तिकाल में, महता चित्तम्=महानुभावों का मन, उत्पलकोमलं भवेत्=कमल के समान कोमल होता है। आपत्सु च=और विपत्तिकाल में, महाशैलशिलासंघातकर्कशम् (भवति)=विशाल पर्वत की शिलाओं के समूह के समान कठोर होता है।

अनुवाद—सम्पत्ति काल में महापुरुषों का मन कमल के समान कोमल होता है और विपत्तिकाल में वही विशाल पर्वत की शिलाओं के समूह की भाँति कठोर हो जाता है।

भावार्थ—सम्पत्ति के समय अर्थात् अभ्युदय काल में सामान्य लोगों का मन बड़ा कठोर, असहनशील तथा गर्वशील हो जाता है और वे दूसरे दीन दुःखियों की उपेक्षा करने लगते हैं, पर महापुरुषों का मन सम्पतिकाल में बहुत ही कोमल, सदय एव सहानुभूति पूर्ण हो जाता है जिससे वे अन्य लोगों की सहायता कर सबको सुखी बनाने का प्रयास करने लगते हैं। इसी प्रकार विपत्तिकाल में साधारण जनों का मन बड़ा शिथिल चिन्ताग्रस्त और कर्त्तव्य विमूढ़ होता है। अतः वे केवल दुःख का ही अनुभव करते हैं, पर विपत्तिकाल में महापुरुषों का मन अति कठोर हो जाता है, फलतः वे ऐसे समय घबड़ाते नहीं, चिन्तित नहीं होते अपितु शिला संघातवत् अपने मन को दृढ़ एवं अविचल बनाकर वीरता के साथ विपत्तियों का सामना कर उन पर विजय पाते हैं और अपने को सुखी बनाते हैं।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में उपमालंकार और अनुष्टुप् छन्द है।

प्रसंग—सुजनों का चरित्र या संकल्प असाधारण होता है, इसी बात का निर्देश करता हुआ कवि कहता है—

प्रिया न्याय्या वृत्तिर्मलिनमसुभङ्गेऽप्यसुकरं,
त्वसन्तो नाभ्यर्थ्याः सुहृदपि न याच्यः कृशधनः।
विपद्युच्चैः स्थैर्यं पदमनु विधेयं च महतां,
सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधारा व्रतमिदम् ॥५७॥

अन्वय—प्रिया न्याय्या वृत्तिः, असुभंगे अपि मलिनम् असुकरम्, असन्तः तु न अभ्यर्थ्याः, सुहृत् अपि कृशधनः न याच्यः, विपदि उच्चैः स्थैर्यम्, महतां च पदम् अनुविधेयम् इदम् विषमम् असिधाराव्रतम् सताम् केन उद्दिष्टम्।

शब्दार्थ—प्रिया=लोकप्रिय, न्याय्या=नीतियुक्त, वृत्तिः=व्यवहार, असुभंगेऽपि=प्राण प्रयाण काल में भी, मलिनम्=दुष्कर्म, असुकरम्=न करना, असन्तः तु न अभ्यर्थ्याः=दुर्जनों से किसी भी विषय में प्रार्थना न करना, सुहृदपि कृशधनः न याच्य =मित्र भी यदि वह निर्धन है तो याचना योग्य नहीं, विपदि उच्चैः स्थैर्यम्=विपत्तिकाल में महा धैर्यशाली बना रहना, महतां पदम् च अनुविधेयम्=पूज्यजनों के पद का अर्थात् स्थान या मार्ग का अनुसरण करना, अथवा महताम् अनुविधेयम् अनुकूल मेव पदम् स्थानम् व्यवसितम्। इदं विषमम् असिधारा व्रतंसतां केनोद्दिष्टम्=यह दुष्कर असिधारा के समान सावधानता तथा एकाग्रता से आचरणीय नियम सज्जनों के लिये किसने बतलाया है ? अर्थात् किसी ने भी नहीं यह तो सज्जनों में स्वतः सिद्ध होता है।

अनुवाद—लोकप्रिय एवं न्याय संगत व्यवहार करना, प्राण प्रयाणकाल में भी दुष्कर्म कदापि न करना, असज्जनों से तो किसी भी विषय में याचना न करना, मित्र से भी यदि वह जीर्णधन है तो याचना न करना, विपत्तिकाल में महा धैर्यशाली रहना, पूज्यजनों के पद चिह्नों पर चलना, यह नीतिसगत वर्ताव आदि दुष्कर, और असिधारा के समान अति सावधानता एवं एकाग्रता से आचरणीय नियम सज्जनों के लिये किसने बतलाया है, अर्थात् किसी ने नहीं (क्योंकि यह तो उनमें स्वतः सिद्ध होता है)।

भावार्थ—इस प्रकार का लोक व्यवहार करना जो कि सबको प्रिय हो और साथ ही नीति संगत भी हो, प्राण संकट आने पर भी कभी दुष्कर्म न करना, साधारण अवस्था की तो बात ही क्या ? "आपत्ति काले मर्यादा नास्ति" इस प्रकार के वाक्यों का अनुसरण करना उचित नहीं है। असज्जनों से तो कभी भी कोई वस्तु न माँगनी चाहिये अपितु याचना सज्जनों से ही करनी चाहिये, क्योंकि दुर्जन प्रायः याचना की उपेक्षा ही करते हैं, सज्जन यदि एक बार मना भी कर दे तो भी वह दुर्जनों द्वारा इच्छापूर्ति की अपेक्षा कहीं अधिक श्रेयस्कर है, जैसा कि महाकवि कालिदास ने कहा है "याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा"। इसी प्रकार उस प्रियमित्र से भी याचना करना उचित नहीं होता जो कि स्वतः जीर्णधन हो चुका है। इसके अतिरिक्त विपत्तिकाल में महाधैर्यशाली बना रहना श्रेयस्कर होता है, क्योंकि धैर्यावलम्बन से कदाचित् विपत्ति सागर को पार भी कर लिया जाय,

अधीर होने से [illegible] और बढ़ती ही है "त्याज्यं न धैर्यं विधुरेऽपि काले" सदा महापुरुषों के द्वारा निर्दिष्ट मार्ग का ही अनुसरण करना यह उक्त प्रकार का व्यवहार जो कि अतिदुष्कर एवं असिधारा के समान सावधानतया आचरणीय है, सज्जनों को कोई बतलाता नहीं अर्थात् उनसे यह कोई नहीं कहता कि इस प्रकार का आचरण करना चाहिये, क्योंकि इस प्रकार का आचरण तो उनमें स्वतः ही होता है।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में शिखरिणी छन्द है।

प्रसंग—प्रस्तुत श्लोक में भी सत्पुरुषों के असाधारण आचरण को बतलाया गया है:—

प्रदानं प्रच्छन्नं गृह मुपगते संभ्रमविधिः,
प्रियं कृत्वा मौनं सदसि कथनं चाप्युपकृतेः।
अनुत्सेको लक्ष्म्या निरभिभवसाराः परकथाः।
सतां केनोद्दिष्टं विषम मसिधारा व्रतमिदम् ॥५८॥

अन्वय—प्रच्छन्नम् प्रदानम्, गृहम् उपगते सति सम्भ्रमविधिः, प्रियम् कृत्वा मौनम्, सदसि च उपकृतेः कथनम् लक्ष्म्या अनुत्सेकः, निरभिभवसाराः परकथाः, इदम् विषमम् असिधाराव्रतम् सताम् केन उदिदष्टम्।

शब्दार्थ—प्रच्छन्नम्=गुप्त, प्रदानम्=दान, गृहमुपगते सम्भ्रमविधिः=(प्रार्थी) के घर पर आने पर प्रत्युत्थात अभिवादनादि सत्कार का शीघ्रतापूर्वक करना, प्रियं कृत्वा मौनम्=(दूसरे का) प्रिय कार्य करके चुप रहना अर्थात् आत्मकृत उपकार का प्रचार न करना, सदसि च उपकृतेः कथतम्=राजसभा या विद्वत्सभा में परकृत उपकार का प्रख्यान करना अर्थात् यदि किसी ने अपने पर उपकार किया है, तो उसका जन-समुदाय में प्रचार करना, लक्ष्म्या अनुत्सेकः=लक्ष्मी से गर्व न करना अर्थात् यदि धन सम्पत्ति प्राप्त हो जाय तो घमण्ड न करना। निरभिभवसाराः परकथाः=दूसरे लोगों की बातों का निन्दापरक न होना अर्थात् अन्य लोगों से सम्बन्ध रखने वाली बातों के लिये उनकी निन्दा त करना, इदम् विषमम् असिधारा व्रतम् सताम् केन उद्दिदष्टम्=यह दुष्कर असिधारा के समान बड़ी सावधानी से आचरणीय नियम को किसने बतलाया है, अर्थात् किसी ने भी नहीं, यह तो उनमें स्वतः सिद्ध है।

अनुवाद— गुप्तदान, (याचक के) घर आने पर प्रत्युत्थानादि सत्क्रिया का शीघ्रतापूर्वक करना, (दूसरे का) प्रिय कार्य करके चुप रहना, विद्वत्सभा में दूसरे के उपकार का प्रचार करना, लक्ष्मी के द्वारा गर्वित न होना, दूसरों की बातों का निन्दक न होना, यह दुष्कर असिधारा के समान बड़ी सावधानी से आचरणीय नियम सज्जनों को किसने बतलाया है, अर्थात् किसी ने नहीं, उनमें तो यह स्वत: सिद्ध है ।

भावार्थ—प्राय: लोग दान देकर दानवीरों में अपनी प्रसिद्धि चाहते हैं, पर ऐसे दानियों का दान कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता, शास्त्रों में गुप्तदान का ही बड़ा महत्त्व माना गया है, अत: सच्चादान गुप्तदान ही कहा जाता है। प्राय: लोग किसी याचक या प्रार्थी के आने पर यह समझ कर कि अब इसे कुछ देना ही पड़ेगा उस का अनादर करने लगते हैं जिससे कि वह चला जाय और उसे कुछ उसका सत्कार न करना पड़े, वस्तुत: यह कार्य सद् व्यवहार के विरुद्ध है, घर में याचक के स्वत: आने पर उसका प्रत्युत्थान अभिवादन आदि सत्कार तुरन्त होना चाहिये, यही समुचित व्यवहार है; लोगों की ऐसी प्रवृत्ति होती है कि यदि वे किसी का कोई प्रिय कार्य कर देते हैं तो स्वत: उसका बखान कर आत्म प्रशंसा चाहते हैं और यदि किसी दूसरे ने उनके प्रति उपकार किया है तो वे चुप रहेंगे, पर ऐसी प्रवृत्ति निन्दनीय होती है, दूसरे का प्रिय कर के चुप रहना तथा दूसरे के द्वारा कृत उपकार की सर्वत्र प्रशंसा करना ही उचित है, धन पाकर लोग घमण्डी वन जाते हैं और दूसरे के कार्यों एवं वातों की निन्दा करने लगते है, पर कवि का कथन है कि लक्ष्मी पाकर गर्वित न होना चाहिये और दूसरों की वातों पर उनकी निन्दा न करनी चाहिये, वस्तुत: आत्मश्लाघा और पर निन्दा दोनों ही त्याज्य हैं, यही सन्मार्ग है "आत्म प्रशंसां पर गर्हामपि च वर्जयेत्" । सज्जनों में ये उक्त गुण और सद्व्यवहार स्वभाविक होते हैं उन्हें ऐसा आचरण करने के लिये कोई प्रेरित नहीं करता ।

विशेष—इसमें भी पूर्वोक्त ही छन्द है

प्रसंग—उत्तम, मध्यम तथा अधम जनों की वृत्ति वतलाता हुआ कवि कहता है—

सन्तप्तायसि संस्थितस्य पयसो नामापि न श्रूयते,
मुक्ताकारतया तदेव नलिनीपत्रस्थितं राजते ।

अन्तः सागरशुक्तिमध्यपतितं तन्मौक्तिकं जायते,
प्रायेणाधममध्यमोत्तमजुषा मेवंविधा वृत्तयः[1] ॥५६॥

अन्वय—सन्तप्तायसि संस्थितस्य पयसः नाम अपि न श्रूयते, तत् एव (पयः) नलिनीपत्रस्थितं (सत्) मुक्तकारतया राजते (दृश्यते) तत् अन्तः सागरशुक्तिमध्यपतितं मौक्तिकं जायते प्रायेण अधम-मध्यमोत्तमजुषाम् एवंविधा वृत्तयः (भवन्ति)।

शब्दार्थ—सन्तप्तायसि=अग्नि से तपे हुये लौह पिण्ड पर संस्थितस्य =डाले गये, पयसः=जल का, नामपि=नाम भी, न श्रूयते=नहीं सुनाई पड़ता, तदेव=वही जल, नलिनी पत्र स्थितं (सत्)=कनलिनी के पत्ते पर पड़ा हुआ (होकर) मुक्तकारतया दृश्यते=मुक्ता (मोती) के आकार के रूप में दिखलाई पड़ता है। तत्=वही जल, अन्तः सागरशुक्तिमध्यपतितम्= समुद्र के भीतर सीप के बीच गिरा हुआ (होकर) मौक्तिकं जायते=मौक्तिक (मोती) बन जाता है। प्रायेण=प्रायः, अधममध्यमोत्तमजुषाम्=निकृष्ट साधारण एवं उत्तम पदार्थों को आश्रित जनों की, एवंविधा वृत्तयः=इस प्रकार की प्रवृत्तियाँ या व्यापार होते हैं।

अनुवाद—अग्निसन्तप्त लौहपिण्ड पर डाले गये जल का नाम भी नहीं सुनाई पड़ता अर्थात् वह पूर्णतया नष्ट ही हो जाता है, वही जल कमलिनी पत्र पर गिर कर मुक्ता के आकार के रूप में दिखलाई पड़ता है, और वही सागर के भीतर सीप के बीच पड़ कर मोती बन जाता है, (इससे स्पष्ट है कि) प्रायः निकृष्ट साधारण और उत्कृष्ट पदार्थों या व्यक्तियों के आश्रित जनों के इसी प्रकार व्यापार होते हैं।

भावार्थ—कवि प्रस्तुत पद्य द्वारा अधम मध्यमोत्तम जनों के संसर्ग का फल बतला रहा है, यदि कोई निकृष्ट जनों के संसर्ग में पड़ा जाता है तो वह उसी प्रकार अस्तित्वहीन हो जाता है जैसा कि जल तप्त लोहे पर पड़ कर अस्तित्वरहित हो जाता है। यदि कोई साधारण अथवा मध्यम श्रेणी

---

१ इस श्लोक के श्रूयते के स्थान पर ज्ञायते, राजते के स्थान पर दृश्यते, अन्तः के स्थान पर स्वात्याम्, एवंविधा वृत्तयः के स्थान पर संसर्गतो देहिनाम् भी पाठान्तर मिलते हैं पर अर्थ में कोई विशेष अन्तर नहीं है।

के लोगों के सम्पर्क में रहता है तो उसकी स्थिति यदि उत्तम नहीं होती तो भी वह कुछ तो उसी प्रकार अच्छा बन ही जाता है जिस पर जल कमलिनी पत्र में पड़कर मोती का आकार धारण करने लगता है, अर्थात् मोती जैसा प्रतीत होने लगता है। इसी प्रकार जब कोई उत्तम जनों के संसर्ग में आ जाता है तब वह वस्तुतः उसी प्रकार सर्वोतम गुण सम्पन्न एवं आकर्षक बन जाता है जैसे वही साधारण जल जब सागर के मध्य सीप में पड़ जाता है तो मोती बन जाता है, इससे सिद्ध है कि लोगों में निकृष्ट मध्यम और उत्तम गुणों का आना उनके अधम मध्यम और उत्तम जनों के सम्पर्क पर निर्भर करता है अतः उत्तम गुणाभिलाषियों को उत्तम जनों का ही सम्पर्क प्राप्त करना चाहिये निष्कृष्ट जनों का नहीं।

विशेष—इसमें भी शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

प्रसंग—सत् पुत्र कलत्र और मित्र की प्राप्ति पुण्यात्मा जनों को ही होती है, इसी बात को बतलाता हुआ कवि कहता है—

यः प्रीणयेत् सुचरितैः, पितरं स पुत्रो,
यद्भर्तुरेव हितमिच्छति तत्कलत्रम् ।
तन्मित्रमापदि सुखे च समक्रियं यद्,
एतत्त्रयं जगति पुण्य कृतो लभन्ते ॥६०॥

अन्वय—यः सुचरितैः पितरम् प्रीणयेत् स पुत्रः, यत् भर्तुः एव हितम् इच्छति तत् कलत्रम्, तत् मित्रम् यद् आपदि सुखे च समक्रियम्, जगति एतत् त्रयम् पुण्यकृतः लभन्ते।

शब्दार्थ—यः सुचरितैः पितरं प्रीणयेत्=जो अच्छे चरित्रों से पिता को प्रसन्न करे, स पुत्रः=वही पुत्र है। यत् भर्तुः एव हितम् इच्छति तत् कलत्रम्=जो पति का ही हित चाहती है वही पत्नी है, तत् मित्रम् यत् आपदि सुखे च समक्रियम् (भवति) वही मित्र होता है जो आपत्ति में और सुख में समान व्यवहार रखने वाला होता है। एतत्त्रयम्=इन तीन सत्पुत्र सत्कलत्र एवं सन्मित्र को, जगति=संसार में, पुण्यकृतो लभन्ते=पुन्यात्मा-जन ही पाते हैं।

अनुवाद—जो अपने अच्छे चरित्रों से पिता को प्रसन्न करे वही पुत्र है, जो अपने पति का हित चाहती है वही पत्नी है और जो आपत्ति में तथा

सुख में समान व्यवहार रखता है वही मित्र है, इन तीन सत् पुत्र, सत्कलत्र एवं सन्मित्र को संसार में पुण्यात्मा जन ही पाते हैं।

भावार्थ—वस्तुतः सत्पुत्र सत्कलत्र और सन्मित्र ही सभी ऐहिक सुखों के साधन होते हैं, पर इनकी प्राप्ति सुदुर्लभ है, कोई पुण्यात्मा ही इन्हें इस रूप में पाते हैं, सत्पुत्र वही हो सकता है जो अपने समुचित कर्तव्यों द्वारा तथा सदाचरण से पिता को सर्वथा प्रसन्न रखता है, सत्पत्नी भी वही होती है जो केवल अपने पति को ही सर्वस्व मान कर उसका हित साधन करती है, इसी प्रकार सन्मित्र भी वही होता है जो सम्पत्ति काल और विपत्तिकाल में भी अपने मित्र के साथ एक समान व्यवहार रखता है। इस सम्बन्ध में अन्य सुभाषित भी उपलब्ध होते हैं वे भी स्मरणीय हैं—

'स पुत्रः यः पुन्नाम्नो नरकात् पितरं त्रायते न तूत्पन्नमात्र एव"।

"पति भक्तिपरा साध्वी शान्ता सा सत्यभाषिणी"।

"आपद्गतं च न जहाति ददाति काले सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः"।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में वसन्ततिलका नामक छन्द है।

प्रसंग—असाधारण गुणों के आश्रयण से ही लोग सर्वजन पूज्य होते हैं, इसी बात को बतलाता हुआ कवि कहता है—

नम्रत्वेनोन्नमन्तः परगुणकथनैः स्वान् गुणान् ख्यापयन्तः।
स्वार्थान्सम्पादयन्तो वितत पृथुतरारम्भयत्नाः परार्थे।
क्षान्त्यैवाक्षेपरूक्षाक्षर मुखरमुखान् दुर्जनान्[1] दुःखयन्तः,
सन्तः साश्चर्यचर्या जगति बहुमताः कस्य नाभ्यर्चनीयाः॥६१॥

अन्वय—नम्रत्वेन उन्नमन्तः, परगुणकथनैः स्वान् गुणान् ख्यापयन्तः, परार्थे विततपृथुतराम्भयत्नाः (सन्तः एव) स्वार्थान् सम्पादयन्तः, आक्षेप रूक्षाक्षरमुखरमुखान् दुर्जनान् क्षान्त्या एव दुःखयन्तः, (अतएव) साश्चर्यचर्याः जगति बहुमताः सन्तः कस्य अभ्यर्चनीयाः न (सन्ति)।

शब्दार्थ—नम्रत्वेन उन्नमन्तः=नम्रता अथवा नम्र व्यवहार से (ही) उन्नति को प्राप्त होते हुये, (क्योंकि) नम्रव्यवहार ही उन्नति का कारण होता है। पर गुण कथनैः=दूसरों के सद्गुणों के कथनों के द्वारा, स्वान् गुणान्

---

१ दुर्जनान् दुःखयन्त के स्थान पर दुर्मुखान् दुःखयन्तः भी पाठान्तर है, पर अर्थ में कोई विशेष अन्तर नहीं है।

=अपने सौजन्यादिगुणों को, ख्यापयन्तः=प्रकट करते हुए, परार्थ=दूसरों के प्रयोजन निर्वाह में, वितत पृथुतरारम्भयत्नाः=विस्तृत एवं विशालतर कार्यारम्भ में उत्साह वाले, अर्थात् जिनमें विस्तृत एवं विशालतर कार्यों के करने में उत्साह है, स्वार्थान् सम्पादयन्तः=अपने प्रयोजनों को सिद्ध करते हुए, अर्थात् दूसरों के कार्य साधन में परमोत्साह पूर्वक संलग्न रह कर ही स्व प्रयोजन को सिद्ध करते हुए, आक्षेपरूक्षाक्षरमुखरमुखारन्=निन्दा से पुरुष अक्षरों से वाचाल मुखों वाले (अर्थात् जो लोग पर निन्दा में कठोर वाक्यों का प्रयोग कर अपने को वाचाल मानते हैं। दुर्जनान्=दुष्टजनों को, क्षान्त्यैव दुःखयन्तः=क्षमाशीलता के द्वारा ही तिरस्कृत या दूषित करते हुए, (अतएव) साश्चर्यचर्याः=आश्चर्यजनक आचरण करने वाले, जगति बहुमताः संसार में बहुत सम्मानित सन्तः=सज्जन पुरुष, कस्य=अभ्यर्चनीयाः न= किसके पूजनीय नहीं (होते) अर्थात् ऐसे लोग सबके पूज्य होते हैं।

अनुवाद—नम्रता से उन्नति प्राप्त करने वाले, दूसरों के सद्गुणों के कथनों से अपने सौजन्यादि गुणों को प्रकट करते हुये, परार्थ साधन में विस्तृत एवं विशालतर कार्यारम्भ में उत्साह रखने वाले (होकर ही) स्वप्रयोजनों को निष्पादित करते हुए, निन्दा से कठोर अक्षरों के प्रयोग से वाचाल मुखों वाले दुर्जनों को क्षमाशीलता से ही दूषित करते हुये, अतएव अद्भुत आचरण वाले (फलतः) ससार में बहुत सम्मानित सज्जन किसके पूजनीय नहीं होते अर्थात् ऐसे सत्पुरुष सर्वजन पूज्य होते हैं।

भावार्थ—नम्र व्यवहार ही उन्नति का साधन है। कठोर तथा गर्व पूर्ण व्यवहार से लोग तिरस्कृत ही होते हैं, अतएव सत्पुरुष नम्र व्यवहार से ही अपने को समून्नत बनाते हैं। आत्म प्रशंसा से वस्तुतः आत्मगुणों का प्रकाशन नहीं होता, अपितु दूसरों के सद्गुणों के प्रकट करने से आत्मगुण अपने आप प्रकाशित हो जाते हैं, क्योंकि सद्गुणी ही दूसरों के गुणों की प्रशंसा कर सकता है, दुर्गुणी नहीं, अतः सज्जन परगुण वर्णन के द्वारा आत्म गुणों को प्रसिद्ध करते हैं। सज्जनों के स्वार्थ साधन का मार्ग भी विचित्र ही होता है। वे परार्थ साधन में बड़े से बड़े कार्य के सम्पादन में उत्साह पूर्वक संलग्न रह कर ही अर्थात् परार्थ साधन करके ही आत्मार्थ साधन करते हैं। वस्तुतः परार्थ साधन में तत्पर मनुष्य के कार्य अपने आप सिद्ध हो जाते हैं। इसी प्रकार वे उन दुर्जनों को जो कि परनिन्दा में कठोराक्षरों का प्रयोग कर

वाचालमुख वाले हैं। क्षमाशीलता से ही दूषित कर अर्थात् उन्हें लज्जित कर सन्मार्ग पर लाते हैं, क्रोध कर या उनकी निन्दाकर उन्हें तिरस्कृत कभी नहीं करते क्योंकि दुर्जन शान्ति एवं क्षमा से ही सम्भव है सन्मार्ग पर आ जाय, कठोर व्यवहार से तो वह कभी सन्मार्ग पर आ ही नहीं सकता। सज्जनों के ऐसे कार्यों से स्पष्ट है कि उनका आचरण विचित्र ही होता है। यही कारण है कि लोक में वे आदरास्पद होते हैं, फलतः वे सर्वजन पूज्य भी बन जाते हैं।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में स्रग्धरा नामक छन्द है।

(अथ परोपकार पद्धतिः)

सुजनता परोपकार फलक होती है. अतः उसके निरूपण के अनन्तर परोपकार पद्धति का निरूपण अवसर प्राप्त है, अतः कवि परोपकार पद्धति का वर्णन करता है :—

भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमैः,
नवाम्बुभि र्दूरविलम्बिनो घनाः।
अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः,
स्वभाव एवैष परोपकारिणाम् ॥६२॥

अन्वय—तरवः फलोद्गमैः नम्राः भवन्ति घनाः नवाम्बुभिः दूरविलम्बिनः (भवन्ति) सत्पुरुषाः समृद्धिभिः अनुद्धताः भवन्ति, परोपकारिणाम् एष स्वभाव एव (भवति)।

शब्दार्थ—तरवः=वृक्ष, फलोद्गमैः=फलों की उत्पत्ति से, नम्राः=झुके हुये होते हैं) सत्पुरुषाः=सुजन, समृद्धिभिः=धन धान्यादि सम्पत्तियों से, अनुद्धताः=विनम्र अर्थात् तीक्ष्ण स्वभाव से रहित (होते हैं) घनाः=मेघ, नवाम्बुभिः=नये जलों से, दूर विलम्बिनः=बरसने के लिये सर्वत्र आकाश सञ्चारी (होते हैं) परोपकारिणामेष स्वभाव एव=परोपकारपरायण लोगों का यह स्वभाव ही होता है।

अनुवाद—वृक्ष फलों के आने से झुक जाते हैं, मेघ नये जल से सर्वत्र अन्तरिक्ष में फैल जाते हैं, सत्पुरुष सम्पत्तियों के द्वारा विनम्र होते हैं, परोपकारियों का यह स्वभाव ही होता है, आहार्य नहीं।

भावार्थ—परोपकार परायण लोगों में यह स्वभाव सिद्ध गुण होता है कि सम्पत्ति शाली होकर वे विनम्र व्यवहार करते हैं। प्रायः लोगों में धन प्राप्ति से गर्व उत्पन्न हो जाता है और वे उद्धत बन जाते हैं, पर जो परोप-

कारी सज्जन होते हैं वे तो उसी प्रकार विनम्र हो जाते हैं जैसे फलों की उत्पत्ति से वृक्ष झुक जाते हैं और नया जल पाकर मेघ सर्वत्र संचारी हो जाते है, (कहीं-कहीं 'भूरि विलम्बिन:' भी पाठ है वहाँ इसका अर्थ है अधिक झुक जाने वाले ।" दोनों ही ठीक पाठ प्रायः ही हैं, क्योंकि अर्थ में कोई विशेष अन्तर नहीं है । परोपकार के विषय में यह भी नीति सुभाषित स्मरणीय है :—

"परोपकाराय फलन्ति वृक्षा:, परोपकाराय वहन्ति नद्यः ।
परोपकाराय चरन्ति गाव:, परोपकारार्थमिदं शरीरम् ।।

विशेष—इस श्लोक में अर्थान्तरन्यास अलंकार और वंशस्थ नाम छन्द है, जिसका लक्षण—"जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ" है ।

प्रसंग—परोपकारी जन के मुख्य एवं वास्तविक आभरणों का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

श्रोत्रं श्रुतेनैव न कुण्डलेन
दानेन पाणि र्न तु कङ्कणेन ।
विभाति कायः करुणापराणां,
परोपकारै र्न तु चन्द्रनेन[1] ।।६३।।

अन्वय—करुणापराणाम् श्रोत्रम् श्रुतेन एव, न कुन्डलेन विभाति, पाणि: दानेन विभाति न तु कड्कणेन, काय: परोपकारै: विभाति न तु चन्दनेन (विभाति) ।

शब्दार्थ—करुणापराणाम्=कारुणिक परोपकारी दयालुजनों के, श्रोत्रम् श्रुतेन एव=कान विद्याभ्यास से ही, विभाति=शोभा पाते हैं, न कुण्डलेन=कुण्डलों से नहीं, पाणि=हाथ, दानेन=दान से, न तु कङ्कणेन=कङ्कण से नहीं, कायः=शरीर, परोपकारैः=परोपकारों से, न चन्दनेन=चन्दन से नहीं ।

अनुवाद—कारुणिक परोपकारी लोगों के कान विद्याभ्यास से ही अलंकृत होते हैं, कुण्डलों से नहीं, हाथ दान से शोभा पाता है, कङ्कण में नहीं, शरीर परोपकारों से सुशोभित होता है, चन्दन से नहीं ।

भावार्थ—परोपकारियों के कानों की शोभा कुण्डल धारण करने से नहीं

---

१ करुणापराणाम् के स्थान पर करुणाकुलानाम्, परोपकारैः के स्थान पर परोपकारेण भी पाठान्तर है, पर अर्थ में विशेष अन्तर नहीं ।

अपितु विद्याभ्यास से होती है, हाथ की शोभा दान है, कङ्कण नहीं, इसी प्रकार उनके शरीर की शोभा परोपकार से होती है, चन्दन लगाने से नहीं अतः सत्पुरुषों को विद्याभ्यास, दान और उपकार को ही अपनाना चाहिये।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में उपजाति छन्द है।

प्रसंग—सज्जन अनाहूत और अनभ्यर्थित होकर ही परोपकार संलग्न होते हैं, इसी बात को कवि बतला रहा है—

पद्माकरं दिनकरो विकचं करोति,
चन्द्रो विकासयन्ति कैरवचक्रवालम्।
नाभ्यर्थितौ जलधरोऽपि जलं ददाति,
सन्तः स्वयं परहिते विहिताभियोगाः ॥६४॥

अन्वय—दिनकरः नाभ्यर्थितः (सन् अपि) पद्माकरम् विकचम् करोति, चन्द्रः कैरवचक्रवालम् विकासयति, जलधरः नाभ्यर्थितः सन्नेव जलम् ददाति, सन्तः स्वयं परहिते विहिताभियोगाः (भवन्ति)

शब्दार्थ—दिनकरः=सूर्य, नाभ्यर्थितः सन्नेव=अयाचित होकर ही पद्माकरम्=कमलवन को, विकचं करोति=प्रफुल्लित करता है, चन्द्रः नाभ्यर्थितः सन्नेव कैरव चक्रबालम् विकासयति=चन्द्रमा अयाचित होकर ही कुमुदमण्डल को विकसित करता है, जलधरः अपि अनभ्यर्थितः सन्नेव जलम् ददाति=मेघ भी अयाचित होकर ही जल देता है। सन्तः स्वयं परहिते विहिताभियोगाः (भवन्ति)=सज्जन स्वयं ही परोपकार में अर्थात् दूसरों के हित साधन में, विहिताभियोगाः=सदुद्योग करने वाले होते हैं।

अनुवाद—सूर्य अयाचित होकर ही कमलवन को विकसित करता है, चन्द्रमा अयाचित होकर ही कुमुदमण्डल को प्रफुल्लित करता है, मेघ अयाचित होकर ही जल देता अर्थात् बरसता है, (इससे स्पष्ट है कि) सज्जन स्वयं ही परहित साधन में सदुद्योग करने वाले होते हैं (किसी के द्वारा प्रार्थना करने पर ही परोपकार नहीं करते)।

भावार्थ—सत्पुरुषों का यह स्वभाव ही होता है कि जहाँ वे आवश्यकता देखते हैं, वहीं परहित साधन में स्वयं ही लग जाते हैं, वे इस बात की अपेक्षा नहीं रखते कि उनसे जब कोई कहे तब ही वे परोपकार करें, जैसे चन्द्रमा

स्वयं कुमुदमण्डल को विकसित करता है और सूर्य कमल वन को, इसी प्रकार मेघ भी अयाचित होकर ही समय पर जल बरसाता है।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में अर्थान्तरन्यालंकार तथा वसन्ततिलका छन्द है।

प्रसंग—कार्य पद्धति के अनुसार पुरुषों के उत्तमादि भेदों का निर्देश करता हुआ कवि कहता है—

> **ऐते सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थान् परित्यज्य ये,**
> **सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये।**
> **तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये,**
> **ये निघ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे[1]** ॥६५॥

अन्वय—ये स्वार्थान् परित्यज्य परार्थघटकाः एते सत्पुरुषाः (सन्ति) ये तु स्वार्थाविरोधेन परार्थम् उद्यमभृतः (ते) तु सामान्याः (सन्ति)। ये स्वार्थाय परहितं विघ्नन्ति ते अमी मानुषराक्षसाः सन्ति। ये निरर्थक परहितं विघ्नन्ति ते के न जानीमहे।

शब्दार्थ—ये स्वार्थान् परित्यज्य=जो लोग अपने स्वार्थों को छोड़कर, परार्थघटकाः=परहित साधन में तत्पर (हैं) एते सत्पुरुषाः=ये सत्पुरुष अर्थात् उत्तम कोटि के मनुष्य हैं। ये स्वार्थाविरोधेन=जो लोग अपना स्वार्थ नष्ट किये बिना ही, परार्थम् उद्यमभृतः=परहित साधन के लिये उद्योग शील (हैं) ते तु सामान्याः=वे सामान्य-साधारण अर्थात् मध्यम श्रेणी के लोग होते हैं। ये परहितं स्वार्थाय विघ्नन्ति=जो स्वार्थ साधन के लिये दूसरे के कार्य को बिगाड़ देते हैं, तेऽमी मानुषराक्षसाः=वे ये मनुष्यों में राक्षस हैं अर्थात् मनुष्य कहे जाकर भी राक्षस हैं। ये निघ्नन्ति निरर्थक परहितम्=जो व्यर्थ ही पराक्रम को बिगाड़ते हैं अर्थात् जिस कार्य से अपना भी कुछ स्वार्थ साधन नहीं होता पर दूसरे के हितकारी कार्य को अवश्य नष्ट कर देते हैं, ते के न जानीमहे=वे कौन हैं यह हम नहीं जानते।

अनुवाद—जो स्वार्थों को छोड़कर परहित-साधन-तत्पर हैं, वे सत्पुरुष हैं अर्थात् उच्चकोटि के मनुष्य हैं। जो स्वार्थ साधन के साथ-साथ परहित

---

१. 'एते' के स्थान पर 'एके' तथा 'ये विघ्नन्ति' के स्थान पर 'ये तु घ्नन्ति' भी पाठान्तर है पर अर्थ में विशेष अन्तर नहीं है।

साधन के लिये उद्योगशील हैं, वे सामान्य जन हैं अर्थात् ऐसे लोग मध्यम श्रेणी के कहे जाते हैं, जो स्वार्थ साधन के लिये परकार्य को नष्ट कर देते हैं, वे ये मनुष्य पदवाच्य होकर भी राक्षस हैं, और जो निरर्थक ही अर्थात् बिना अपने स्वार्थ साधन के भी परकार्य को नष्ट कर देते हैं, वे लोग कौन हैं यह हम नहीं जानते अर्थात् ऐसे लोगों को कोई भी संज्ञा नहीं दी जा सकती है।

भावार्थ—कवि ने प्रस्तुत श्लोक में तीन श्रेणी के लोग बतलाये हैं, उत्तम, मध्यम और अधम। जो स्वार्थ को छोड़ कर परार्थ साधन संलग्न रहते हैं वे उत्तम, जो स्वार्थ के साथ साथ परार्थ साधन भी करते हैं वे मध्यम और जो स्वार्थ के लिये परार्थ के विघातक हैं वे अधम होते है, इसी तृतीय श्रेणी के लोगों को कवि ने मानुष राक्षस कहा है। इसके अतिरिक्त एक प्रकार के वे लोग भी हैं जो निरर्थक ही पर कार्य विघातक होते हैं, कवि कहता है कि ऐसे लोगों को क्या नाम दिया जाय अर्थात इन्हें किस श्रेणी में रखा जाय यह हम नहीं जानते अर्थात् ऐसे लोगों को निकृष्टतम ही समझना चाहिये।

विशेष—शार्दूल विक्रीडित छन्द है।

प्रसंग—सन्मित्र का लक्षण निर्देश करता हुआ कवि कहता है—

पापान्निवारयति योजयते हिताय,
गुह्यं निगूहति गुणान् प्रकटी करोति।
आपद् गतं च न जहाति ददाति काले।
सन्मित्र लक्षण मिदं प्रवदन्ति सन्तः ॥६६॥

अन्वय—पापात् निवारयति, हिताय योजयते, गुह्यम् निगूहति, गुणान् प्रकटी करोति, आपद्गतं च न जहाति, काले ददाति, सन्तः इदम् सन्मित्र-लक्षणम् प्रवदन्ति।

शब्दार्थ—पापान्निवारयति=पाप से अर्थात् पाप पूर्ण आचरण से दूर करता है—रोकता है, हिताय योजयते=हितकारी सत्कर्म के आचरण के लिये प्रवृत्त करता है, गुह्य निगूहति=गोपनीय बात को छिपाता है, गुणाम् प्रकटी करोति=(मित्र के) गुणों को प्रकट करता है अर्थात् उसके गुणों का प्रचार करता है, आपद्गतं न जहाति=आपत्तिग्रस्त (मित्र को) नहीं छोड़ता है अपितु आपत्ति काल में उसकी सहायता करता है, ददाति काले=आपत्ति आदि के

समय यथाशक्ति देता है अर्थात् धनादि से सहायता करता है, सज्जन पुरुष ये सन्मित्र के लक्षण बतलाते हैं।

अनुवाद—(जो) पाप कर्म से दूर करता है, हितकारी कार्यों मे लगाता है, गोपनीय बात को छिपाता है, (मित्र के) गुणों को प्रकट करता है, आपत्ति-ग्रस्त (मित्र को) नहीं छोड़ता है, समय पड़ने पर (धनादि) देता है (वही मित्र है), सज्जन सन्मित्र के ये लक्षण बतलाते हैं।

भावार्थ—पाप कर्मों से बचाने वाला, हितकर कार्यों में लगाने वाला गोपनीय बातों को छिपाने वाला, गुणों को प्रकट करने वाला, आपत्ति में साथ देने वाला यथावसर सहायता करने वाला ही सच्चा मित्र बतलाया गया है।

विशेष—वसन्ततिलका छन्द है।

प्रसंग—सज्जनों की मैत्री का निर्देश करता हुआ कवि कहता है—

क्षीरेणात्मगतोदकाय हि गुणा दत्ताः पुरा तेऽखिलाः,
क्षीरे तापमवेक्ष्य तेन पयसा स्वात्मा कृशानौ हुतः।
गन्तुं पावक मुन्मन स्तदभवद् दृष्ट्वा तु मित्रापदं,
युक्तं तेन जलेन शाम्यति सतां मैत्री पुनस्त्वीदृशी ॥६७॥

अन्वय—क्षीरेण आत्मगतोवकाय हि पुरा ते अखिला गुणाः दत्ताः, क्षीरे-तापम् अवेक्ष्य तेन पयसा स्वात्मा कृशानौ हुतः, तत् तु मित्रापदं दृष्ट्वा पावकम् गन्तुम् उन्मनः अभवत्, तेन जलेन युक्तम् पुनः शाम्यति, सताम् मैत्री तु ईदृशी।

शब्दार्थ—क्षीरेण=दूध के द्वारा, आत्मगतोदकाय=अपने में (आकर) मिले हुए जल को, पुरा=पहले, ते अखिला गुणाः=वे सम्पूर्ण प्रसिद्ध गुण, दत्ताः=दे दिये, क्षीरे तापम् अवेक्ष्य=दूध में उत्ताप अर्थात् उफान को देख कर, तेन पयसा=उस (मिश्रित) जल ने, स्वात्मा कृशानौ हुतः=अपने को अग्नि में हवन कर दिया अर्थात् जला दिया, मित्रापदं तु दृष्टवा=अपने मित्र जल को विपत्ति देखकर तो, तद् पावकं गन्तुम् उन्मनः अभवत्=वह दूध अग्नि में जाने के लिये उद्यत हो गया, तेन जलेन युक्तं पुनः शाम्यति= उस जल से युक्त (मिश्रित) होकर फिर शान्त हो जाता है, सतां तु मैत्री इदृशी=सज्जनों की मित्रता तो ऐसी होती है।

अनुवाद—दूध के द्वारा अपने प्राप्त जल को पहिले (अपने) वे सब प्रसिद्ध गुण दे दिये गये, (तदनु) क्षीर में उफान देखकर उस जल ने अपने

को अग्नि में डाल दिया, मित्र की अर्थात् जल की विपत्ति देखकर दूध अग्नि में जाने के लिए उद्यत हुआ, पर उस जल से मिश्रित होकर पुनः शान्त हो जाता है, सज्जनों की मित्रता ऐसी होती है।

भावार्थ—सज्जनों की मित्रता का सुन्दर उदाहरण दूध और जल की मित्रता में देखा जाता है। सच्चे मित्र परस्पर सहायक होते हैं. विपत्ति काल में प्राणार्पण कर भी एक दूसरे की सहायता करते हैं और अपने मित्र को सब कुछ दे देते हैं। दूध में जब जल मिश्रित होता है तब दूध अपने पास आकर मिले हुए अपने मित्र जल को अपने समस्त गुण दे देता है अर्थात् जल भी श्वेत वर्ण दूध जैसा ही हो जाता है फिर दूध और जल को सर्वांशतः अलग-अलग नहीं किया जा सकता। इस प्रकार सबसे पहिले मित्रता के लिए प्राप्त जल को उसका मित्र दूध उसको अपने सब गुण देकर उसको अपना मित्र बना लेता है। अग्नि पर रखने पर जब दूध में उफान आने लगता है अर्थात् इस प्रकार जब दूध उत्तप्त होने लगता है तब उसका मित्र जल ही सबसे पहिले अग्नि में गिर पड़ता है और अपने प्राणार्पण कर अपने मित्र की रक्षा करता है पर मित्र की इस विपत्ति को देख कर दूध भी स्वयं अग्नि में जाने के लिए प्रस्तुत हो जाता है। उसको अग्नि में जाता हुआ देख कर जब फिर उसमें जल डाल दिया जाता है तब वह पुनः अपने मित्र को पाकर शान्त हो जाता है। सज्जनों की इसी प्रकार की मित्रता होती है।

विशेष—यद्यपि नीरक्षीर का यह व्यवहार लोक प्रसिद्ध है तथापि यहाँ कवि ने परस्पर सन्ताप दर्शन हेतु रूप में उत्प्रेक्षा की है अतः यहाँ उत्प्रेक्षालंकार है, शार्दूल विक्रीडित छन्द है।

प्रसग— महा पुरुषों के महत्व को बतलाता हुआ कवि कहता है—

इतः स्वपिति केशवः कुलमितस्तदीयद्विषां,
इतश्च शरणार्थिनः शिखरिणां गणाः शेरते।
इतोऽपि वडवानलः सह समस्तसंवर्तकैः,
अहो विततमूर्जितं भरसहञ्च सिन्धो र्वपुः ॥६८॥

अन्वय—इतः केशवः स्वपिति, इतः तदीयद्विषाम् कुलम्, इतः च शरणार्थिनः शिखरिणाम् गणाः शेरते, इतः अपि समस्त संवर्तकैः सह वडवानलः (स्वपिति) अहो सिन्धोः वपुः विततम् ऊर्जितम् भरसहं च (अस्ति)।

शब्दार्थ—इतः केशवः स्वपिति=इधर एक स्थान पर विष्णु सो रहे हैं, इतः तदीयद्विषां कुलं (स्वपिति) इधर एक स्थल में उनके अर्थात् विष्णु के शत्रुओं (रावण हिरण्याक्षादि) का समूह (सो रहा है) इतश्च शरणार्थिनः शिखरिणां गणाः शेरते=और इधर एक ओर शरणार्थी पर्वतों (मैनाक आदि) का समूह सो रहा है, इतः अपि समस्त संवर्तकैः सह वड़वानलः (स्वपिति) और इधर समस्त संवर्तकों के साथ (प्रलय काल में अतिवृष्टि करने वाले मेघ संवर्तक कहलाते हैं, इन्हें ही पुष्करावर्तक कहा जाता है) वड़वानल (सो रहा है) अहो=आश्चर्य है, कि सिन्धोः वपुः=समुद्र का शरीर, वितनम् ऊर्जितम् भरसहं च (अस्ति)=केशव का आधार होने से विस्तृत, वड़वानल का आश्रय होने से ऊर्जित-वर्धिष्णु वढ़ने वाला, एवं भरसह-पर्वतों का भार धारण करने से भार को सहन करने की क्षमता रखने वाला है।

अनुवाद—इधर विष्णु सो रहे हैं, इधर एक ओर उनके शत्रुओं का समूह सो रहा है, और इधर एक ओर शरणार्थी पर्वतों का समूह सो रहा है [और इधर सभी संवर्तक मेघों के साथ वड़वानल सो रहा है, आश्चर्य है कि समुद्र का शरीर (कितना) विस्तृत वर्धिष्णु और भार धारण-क्षम है।

भावार्थ—सत्पुरुष अपनी शरण में आने वाले लोगों की सदा रक्षा करते हैं, स्वयं उनको उनके संरक्षण में भले ही कष्ट उठाना पड़े पर वे अपने कष्ट की चिन्ता न कर शराणार्थियों को शरण अवश्य देते हैं। बड़े सागरवत् विशाल एवं गम्भीर-हृदय जन ही ऐसा कर सकते हैं अन्य लोग नहीं। विष्णु पर्वत और वड़वानल तथा हिरण्याक्ष जैसे दैत्यों को भी शरण देने वाला सागर ही है अत एव वह विस्तृत ऊर्जित एवं अति भारधारणक्षम भी है।

विशेष—पृथ्वी नामक छन्द है।

प्रसंग—परहिताचरण से ही जीवन की सफलता सम्भव है, अन्यथा नहीं इसी बात को बतलाता हुआ कवि कहता है—

जात कूर्मः स एकः पृथुभुवनभरायार्पितं येन पृष्ठं,
श्लाध्यं जन्म ध्रुवस्य भ्रमति नियमितं यत्र तेजस्वि चक्रम्।
संजातव्यर्थपक्षाः परहितकरणे नोपरिष्ठान्न चाधो,
ब्रह्माण्डो दुम्बरान्त र्मशकवदपरे जन्तवो जातनष्टाः ॥९९॥

अन्वय—एकः स कूर्मः (एव) जातः, येन पृथुभुवनभराय पृष्ठम् अर्पितम्, ध्रुवस्य जन्म श्लाघ्यम्, यत्र तेजस्वि चक्रम् नियमितं (सत्) भ्रमति, परहित करणे संजातव्यर्थपक्षाः अपरेजन्तवः उपरिष्टात् न अधः च न (किन्तु) ब्रह्माण्डोदुम्बरान्तर्मशकवत् जातनष्टाः (सन्ति)।

शब्दार्थ—एकः स कूर्मः (एव) जातः=केवल वह एक कूर्मावतार ही जन्म लाभवान् (है) येन पृथुभुवनभराय पृष्ठम् अर्पितम्=जिसने विशाल (चतुर्दश) भुवनों के भार के लिये अपनी पीठ अर्पित कर दी है, ध्रुवस्य जन्म श्लाघ्यम्=ध्रुव का जन्म (भी) सार्थक एव सकल लोक प्रशंसनीय है, यत्र तेजस्विचक्रं नियमितं सत् भ्रमति=जिस ध्रुव पर ग्रह नक्षत्रों का चक्र नियुक्त होकर घूमता है, परहितकरणे=परोपकार करने में, संजातव्यर्थपक्षाः=जिनके पक्ष (कार्य साधक कर चरणादि) व्यर्थ ही उत्पन्न हुये हैं ऐसे दूसरे जीव अर्थात् कूर्मावतार तथा ध्रुव से अतिरिक्त अन्य जीवधारी, नोपरिष्टान्न चाधो=जो कि न तो ध्रुववत् ऊपर वर्तमान होते हैं और न कूर्मावतारवत् नीचे ही वर्तमान रहने वाले हैं, (किन्तु) ब्रह्माण्डोदुम्बरान्तर्मशकवत् जातनष्टाः (सन्ति) ब्रह्माण्ड रूपी उदुम्बर (गूलर) के फल के भीतर रहने वाले मशकों के समान उत्पन्न हुये और नष्ट हो जाते हैं।

अनुवाद—केवल वह एक ही आदि कूर्मावतार जन्म लाभवान् है, जिसने विशाल (चतुर्दश) भुवनों के भार के लिये अपनी पीठ समर्पित कर दी है अर्थात् निरन्तर अधः स्थित रह कर चतुर्दश भुवनों के भार को धारण करता हुआ भी जो दुःखी नहीं होता और इतने भार को सहन करता है अतः उसी का जन्म सार्थक है। ध्रुव (उत्तनपाद के पुत्र) का जन्म भी श्लाघनीय है, जिस ध्रुव पर ग्रहनक्षत्रादि का चक्र नियमित होकर घूमता रहता है अर्थात् जो ध्रुव तेजस्वि चक्र का स्वयं नियमतः प्रवंतन कराता है (इनके अतिरिक्त) परोपकार करने में असमर्थ होने से जिनके कार्यसाधनक्षम कर-चरणादि व्यर्थ ही उत्पन्न हुये हैं ऐसे जीवधारी जो कि न तो ध्रुववत् ऊपर और न कूर्मवत् नीचे वर्तमान है, गूलर के भीतर स्थित मच्छरों की भाँति उत्पन्न होकर नष्ट होने वाले हैं अर्थात् उनका जन्म लेना सर्वथा व्यर्थ ही है।

भावार्थ—वस्तुतः जन्म लेना उसी का सार्थक है जो परोपकार में निरत है, शेष जीवधारियों का जन्म निरर्थक ही है, जिनसे किसी का कार्य

सिद्ध नहीं हो सकता। महान् परोपकारी जीव परहित कष्ट सहते हुये भी जनकल्याण में सदा सलग्न रहते हैं, आदिकूर्मावतार सदा लोकों के भार को अपनी पीठ पर धारण किये रहता है। और ध्रुव सभी ग्रहनक्षत्रादि चक्र का प्रवर्तन करता रहता है अतः इनका ही जन्म सार्थक है शेष तो केवल गूलर के फल के अन्दर होने वाले तुच्छ कीटों की भाँति केवल मरने के लिये ही उत्पन्न होते हैं अतः उनका जन्म लेना ही निरर्थक है।

विशेष—रूपक और उपमा का संकर है तथा स्रग्धरा छन्द है।

प्रसंग—लोक शिक्षणार्थ कवि सदाचार का उपदेश देता हुआ कहता है—

तृष्णां छिन्धि भज क्षमां जहि मदं पापे रतिं मा कृथाः,
सत्यं ब्रूह्यनुयाहि साधुपदवीं सेवस्व विद्वज्जनम्।
मान्यान् मानय विद्विषोऽप्यनुनय प्रख्यापय प्रश्रयं,[1]
कीर्तिं पालय दुःखिते कुरु दयामेतत्सतां चेष्टितम् ॥७०॥

अन्वय--(हे जन) तृष्णाम् छिन्धि, क्षमां भज, मदं जहि, पापे रतिम् मा कृथाः, सत्यं ब्रूहि, साधुपदवीम् अनुयाहि, विद्वज्जनम् सेवस्व, मान्यान् मानय, विद्विषः अपि अनुनय, प्रश्रयं प्रख्यापय, कीर्तिं पालय, दुःखिते दयां कुरु, एतत् सताम् चेष्टितम् (अस्ति)।

शब्दार्थ—(हे मानव !) तृष्णाम् छिन्धि=तृष्णा-लोभ-लालच को काट दो अर्थात् तृष्णा का त्याग करो, क्षमां भज=क्षमा का सेवन करो—क्षमा शील बनो, मदं जहि=घमण्ड का त्याग करो, पापे रतिं मा कृथाः=पाप में रुचि मत करो, सत्यं ब्रूहि=सत्य बोलो, साधु पदवीं अनुयाहि=सज्जनों के मार्ग का अनुगमन करो, विद्वज्जनं सेवस्व=विद्वानों की सेवा करो, मान्यान् मानय=पूज्यजनों का सम्मान करो, विद्विषोऽप्यनुनय—शत्रुओं को भी (विनय से) प्रसन्न करो, प्रश्रयं प्रख्यापय=विनम्रता की प्रसिद्धि करो, कीर्तिं पालय=कीर्ति की रक्षा करो, दुःखिते दयां कुरु=दुःखीजन पर दया करो, यह सज्जनों का आचरण है।

---

१. 'प्रश्रयं' के स्थान पर "स्वत् गुणान्" पाठान्तर है जिसका अर्थ (अपने गुणों को) है। चेष्टितम् के स्थान पर "लक्षणम्" पाठान्तर है जिसका अर्थ स्पष्ट ही है।

अनुवाद—हे मानव ! तृष्णा का त्याग करो, क्षमा धारण करो, घमण्ड छोड़ो, पाप में रुचि मत करो, सत्य बोलो, सत्पुरुषों के मार्ग पर चलो, विद्वानों की सेवा करो, पूज्यजनों का सम्मान करो, शत्रुओं को भी विनय से प्रसन्न रखो, विनम्रता की प्रसिद्धि करो, यश की रक्षा करो, दुःखी जनों पर दया करो, यही सज्जनों का आचरण है।

भावार्थ—तृष्णादि उक्त दुर्गुणों का त्याग करना ही श्रेयस्कर है, बिना उक्त दुर्गुणों के त्याग के तथा उक्त सद्‌गुणों के आश्रयण के, मनुष्य सफल जीवन नहीं बिता सकता। ऐहिक और आमुष्मिक सुखाभिलाषी के लिये कवि द्वारा निर्दिष्ट बातों पर चलना आवश्यक है, इसी से मानव जन्म सार्थक हो सकेगा।

विशेष—शार्दूल विक्रीडित छन्द है।

प्रसंग—प्रस्तुत श्लोक में निर्दिष्ट सत्पुरुष विरले ही होते हैं, इसी बात का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

मनसि वचसि काये पुण्यपीयूषपूर्णाः,
त्रिभुवन मुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः।
परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यं
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः[1] कियन्तः ॥७१॥

अन्वय—मनसि वचसि काये पुण्यपीयूषपूर्णाः, उपकारश्रेणिभिः त्रिभुवनं प्रीणयन्तः, परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य निजहृदि नित्यं विकसन्तः सन्तः कियन्तः सन्ति।

शब्दार्थ—मनसि=मन में, वचसि=वाणी में, काये=शरीर में, पुण्य पीयूष पूर्णाः=पुण्य रूप अमृत से परिपूर्ण, उपकार श्रेणिभिः=परोपकार परम्पराओं द्वारा, त्रिभुवनं प्रीणयन्तः=तीनों लोकों को सन्तुष्ट करते हुये, परगुणपरमाणून्=दूसरों के अत्यल्प गुणों को, पर्वतीकृत्य=पर्वत जैसा महत्तम बना कर, निजहृदि=अपने हृदय में, नित्यम्=सदा ही, विकसन्तः=प्रसन्न रहते हुये, सन्तः कियन्तः सन्ति=सत्पुरुष कितने हैं।

---

१. सन्ति सन्तः के स्थान पर ख्यापयन्तः भी पाठान्तर है पर अर्थ में विशेष अन्तर नहीं है।

अनुवाद—मन वाणी और शरीर में पुण्यरूप अमृत से भरे हुये परोपकार परम्पराओं द्वारा त्रिभुवन को सन्तुष्ट करते हुये, दूसरों के अत्यल्प गुणों को पर्वत जैसा विशाल बना कर अपने हृदय में सदा प्रसन्न रहने वाले सत्पुरुष कितने हैं अर्थात विरले ही हैं।

भावार्थ—मन वाणी और शरीर से परोपकार करके पुण्य अर्जित करने वाले अतएव अपने उपकारों से त्रिभुवन को आनन्दित करने वाले तथा दूसरों के थोड़े से भी गुणों को अधिक बढ़ा कर बताने वाले फिर भी अपने हृदय में सदा प्रसन्न रहने वाले सत्पुरुष इस संसार में विरले ही होते हैं, क्योंकि इस प्रकार का आचरण कठिन होता है अतः थोड़े ही लोग ऐसे पाये जाते हैं।

विशेष—मालिनी नामक छन्द है।

(अथ धैर्य पद्धतिः)

परोपकार के भी धैर्यशील मूलक होने से परोपकार पद्धति के वर्णन के अनन्तर धैर्यशील पद्धति का वर्णन किया जा रहा है—

रत्नै महाब्धे[1] स्तुतुषु र्न देवाः,
न भेजिरे भीमविषेण भीतिन्।
सुधां विना न प्रययु र्विरामं
न निश्चितार्थाद् विरमन्ति धीराः ॥७२॥

अन्वय—देवाः महाब्धेः रत्नैः न तुतुषुः, भीमविषेण भीतिम् न भेजिरे, सुधाम् विना विरामम् न प्रययुः, धीराः निश्चितार्थात् न विरमन्ति।

शब्दार्थ—देवाः महाब्धेः रत्नैः न तुतुषुः=देवता (समुद्र मन्थन काल में उपलब्ध) महासमुद्र के रत्नों से सन्तुष्ट नहीं हुये, भीमविषेण भीति न भेजिरे=भयानक विष से भय को प्राप्त न हुये, सुधां विना विरामम् न प्रययुः=अमृत के बिना विराम (कार्य समाप्ति) को प्राप्त नहीं हुये। धीरा निश्चितार्थात् न विरमन्ति=धैर्य शाली लोग इष्ट एवं निश्चित पदार्थ प्राप्ति से कभी नहीं हटते अर्थात् निश्चित पदार्थ प्राप्त कर के ही विराम लेते हैं।

---

१. महाब्धेः के स्थान पर महार्हे भी पाठान्तर है जिसका अर्थ है बहुमूल्य और यह रत्नों का विशेषण है।

अनुवाद—देवता महासमुद्र के रत्नों से सन्तुष्ट न हुये, और भयानक विष से भय को भी प्राप्त न हुये उन्होंने अमृत के बिना विराम नहीं लिया (इससे सिद्ध है कि) धैर्यशाली जन निश्चित एवं इष्ट पदार्थ से कभी नहीं हटते उसे प्राप्त करके ही छोड़ते हैं।

भावार्थ—धैर्यशालियों का यह स्वभाव ही होता है कि किसी पदार्थ की प्राप्ति के लिये या किसी प्रयोजन की सिद्धि के लिये जब वे एक बार निश्चय कर लेते हैं, तब वे बिना उसे प्राप्त किये नहीं छोडते। इस प्राप्ति मार्ग में फिर चाहे जितनी बाधायें उपस्थित हों, कष्ट मिले अथवा उस पदार्थ के बदले अन्य पदार्थ प्राप्त हो जाय पर वे अपने इष्ट पदार्थ को जब तक प्राप्त नहीं कर लेते अपने कार्य को नहीं छोड़ते हैं। देवताओं ने समुद्र से रत्नों की प्राप्ति होने पर भी तथा विष से भयभीत होने पर भी अपने कार्य समुद्र मन्थन को तब तक नहीं छोड़ा, जब तक कि उन्हें अमृत नहीं मिल गया क्योंकि अमृत प्राप्ति ही उनका इष्ट था।

विशेष—अर्थान्तरन्यास अलंकार तथा उपजाति छन्द है।

प्रसंग—धैर्य के महत्व का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः,
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः।
विघ्नै र्मुहुर्मुहु रपि प्रतिहन्य मानाः
प्रारब्ध मुत्तमगुणा न परित्यजन्ति ॥७३॥

अन्वय—नीचैः विघ्नभयेन न प्रारभ्यते खलु, मध्याः प्रारम्भ विघ्नविहताः (सन्तः) विरमन्ति, उत्तम गुणाः विघ्नैः मुहुः मुहुः अपि प्रतिहन्यमानाः (सन्तः) प्रारब्धम् न परित्यजन्ति।

शब्दार्थ—नीचैः=नीच (अधम) पुरुषों द्वारा, विघ्नभयेन=विघ्नों के डर से, न प्रारभ्यते खलु—(कार्य) आरम्भ ही नहीं किया जाता, मध्याः= मध्यम श्रेणी के लोग, प्रारभ्य=(कार्य को, आरम्भ करके, विघ्नविहताः= विघ्नों से प्रताड़ित होकर, विरमन्ति=रुक जाते हैं अर्थात् कार्य छोड़ देते हैं, उत्तमगुणाः=उत्तम श्रेणी के लोग, विघ्नैः मुहुः मुहुः अपि प्रतिहन्यमानाः =विघ्नों द्वारा बार-बार प्रताड़ित होकर भी, प्रारब्धम्=आरम्भ किये हुये कार्य को, न परि-त्यजन्ति=नहीं छोड़ते है।

अनुवाद—नीच अधम जन विघ्नों के डर से (काम) आरम्भ ही नहीं

करते, मध्यम जन (कार्य को) आरम्भ करके विघ्नों से ताड़ित होकर कार्य छोड़ देते हैं, पर उत्तम गुण सम्पन्न लोग विघ्नों से बार-बार ताड़ित होने पर भी आरम्भ किये हुये कार्य को नहीं छोड़ते ।

भावार्थ—कवि ने यहाँ अधम, मध्यम और उत्तम ये तीन श्रेणियाँ बतलाई हैं । अधम जन वे होते हैं जो विघ्नों के डर से कार्यारम्भ ही नहीं करते मध्यम लोग वे होते हैं जो काम आरम्भ करके भी विघ्नों के उपस्थित होने पर काम छोड़ देते हैं । पर उत्तम जन वे ही होते हैं जो अनेक विघ्नों से बार-बार प्रताणित होने पर भी अपने प्रारब्ध काम को नहीं छोड़ते । धैर्य शाली उत्तम जन विघ्नों की उपेक्षा कर अपने कार्य पर डटे रहते हैं और कार्य सिद्धि तक उसे नहीं छोड़ते ।

विशेष—वसन्ततिलका छंद है ।

प्रसंग—धैर्य शाली के लक्षण और उसके कार्यों का निर्देश करता हुआ कवि कहता है—

कान्ताकटाक्षविशिखा न लुनन्ति[1] यस्य,
चित्तं न निर्दहति कोपकृशानुतापः ।
कर्षन्ति भूरि विषयाश्च न लोभपाशा,
लोकत्रयं जयति कृत्स्नमिदं स धीरः ॥७४॥

अन्वय—यस्य चित्तम् कांताकटाक्षविशिखाः न लुनन्ति, कोपकृशानुतापः न निर्दहति, भूरिविषयाः लोभपाशाः च न कर्षन्ति स एव धीरः इदम् कृत्स्नं लोकत्रयम् जयति ।

शब्दार्थ—यस्य चित्तम=जिससे मन को, कान्ताकटाक्षविशिखाः= कामिनी के कटाक्ष रूप वाण, न लुनंति=नहीं सम्मोहित करते हैं । कोपकृशानुतापः न निर्दहति= क्रोध रूप अग्नि का संताप नहीं जलाता है, भूरिविषयाः=बलवत्तर इंद्रिय विषय, लोभपाशाः च=और लोभ रूपी रज्जु, न कर्षन्ति=नहीं खीचती हैं, स धीरः कृत्स्नम् इदं लोकत्रयं जयति= वह धैर्यशाली इन सम्पूर्ण तीनों लोकों को जीत लेता है ।

अनुवाद—जिसके मन को कामिनी के कटाक्षवाण सम्मोहित नहीं करते,

---

१. लुनन्ति के स्थान पर 'दहन्ति' तथा लोभपाशाः के स्थान पर लोभपाशैः भी पाठान्तर है, पर अर्थ में विशेष अन्तर नहीं है ।

क्रोधाग्नि का संताप नहीं जलाता, बलवत्तर विषयभोग एवं लोभपाश आकृष्ट नहीं करते, वह धैर्यशाली जन इस सम्पूर्ण त्रिलोक को जीत लेता है।

भावार्थ—वस्तुतः उसी को धैर्यशाली समझना चाहिए जिसका मन इतना दृढ़ हो कि कामिनी के कटाक्ष बाण उसे मोहित न कर सकें, क्रोधाग्नि का ताप जला न सके और सांसारिक बलवान् विषय भोग तथा लोभादि आकृष्ट न कर सकें। ऐसे ही मनुष्य में वह अपूर्व शक्ति होती है कि वह अपने सच्चरित्र से एक नहीं तीनों लोकों को वशवर्ती बना सकता है। वस्तुतः काम क्रोध लोभ मोह ही मनुष्य के विनाश के हेतु है। जिन्होंने इन अन्तः शत्रुओं को जीत लिया है वे ही धैर्यशाली हैं।

विशेष—इसमें पूर्वोक्त छन्द ही है।

प्रसंग—दयादि गुण सम्पन्न उदार चरित्र व्यक्ति दुःख-सुखादि की चिन्ता न कर अपने कार्य के साधन में सदा तत्पर रहता है। इसी बात का निर्देश करता हुआ कवि कहता है—

क्वचित्पृथ्वीशय्यः[1] क्वचिदपि च पर्यङ्कशयनः,
क्वचिच्छाकाहारी क्वचिदपि च शाल्योदनरुचिः,
क्वचित्कन्थाधारी क्वचिदपि च दिव्याम्बरधरो
मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःख न च सुखम् ॥७५॥

अन्वय—क्वचित् पृथ्वीशय्यः, क्वचत् अपि च पर्यंकङशयनः, क्वचित् शाकाहारी, क्वचित् अपि च शाल्योदन रुचिः क्वचित् कन्थाधारी, क्वचिदति च दिव्याम्बरधरः कार्यार्थी मनस्वी न दुःखं गणयति, न च सुखं गणयति।

शब्दार्थ—क्वचित्=किसी समय अथवा स्थान पर, पृथ्वीशय्यः=खुली पृथिवी पर सोने वाला, क्वचिदपि च=और कहीं कभी पर्यंकशयनः=पलंग पर सोने वाला, क्वचित्=कहीं कभी. शाकाहारी=शाकपात खाने वाला, क्वचिदपि च=और कहीं कभी, शाल्योदनरुचिः=शाली नामक अच्छे धान्यों का भात खाने वाला, क्वचित्=कहीं, कन्याधारी=गुदड़ी या कथड़ी पहनने वाला क्वचिदपि च=और कहीं कभी, दिव्याम्बरधरः=सुन्दरवस्त्र पहनने वाला, कार्यार्थी=स्वकार्यसाधन में तत्पर, मनस्वी=उदारचरित्र व्यक्ति, न दुखं गणयति न च सुखम्=न दुःख गिनता है और न सुख।

---

१. कहीं पृथ्वीशय्यः के स्थान पर भूमौ शय्या भी पाठ है पर अर्थ में अन्तर नहीं है।

अनुवाद—कभी कहीं भूमि पर सोने वाला और कभी कहीं पलंग पर सोने वाला, कहीं कभी शाक पात खाने वाला और कहीं कभी शाली ओदन का खाने वाला, कभी गूदड़ी पहनने वाला और कभी दिव्य वस्त्र धारण करने वाला, स्वकार्य संलग्न उदारचरित्र व्यक्ति दुःख गिनता है और न सुख, अर्थात् दुःख और सुख में समान भाव से रहकर स्वकार्य साधन तत्पर रहता है।

भावार्थ—उदार एवं उत्कृष्ट चरित्र धैर्यशाली व्यक्ति का यह स्वभाव होता है कि वह एक मात्र अपने कार्य साधन में ही संलग्न रहता है। इस कार्य साधन के बीच आने वाले सुखों अथवा दुःखों की वह परवाह कभी नहीं करता। अपने कार्य साधन के समय उसे कभी खुली ऊबड़-खाबड़ जमीन पर भी सोना पड़ता है, शाक पात से ही पेट भरना पड़ता है और गूदड़ी भी पहननी पड़ती है और कभी पलंग पर भी सोने को मिलता है, शाल्योदन खाने को मिलते है और दिव्यशास्त्र धारण करने को भी प्राप्त होते हैं, पर वह कभी इनकी परवाह नहीं करता है।

विशेष—शिखरिणी नामक छन्द है।

प्रसंग—सत्पुरुष निन्दा तथा स्तुति को प्राप्त कर के भी अपने निश्चित मार्ग से विचलित नहीं होते, इसी बात को कवि प्रस्तुत श्लोक द्वारा बतलाता हुआ कहता है :—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥७६॥

अन्वय—नीतिनिपुणाः निन्दन्तु यदि वा स्तुवन्तु, लक्ष्मीः समाविशतु वा यथेष्टं गच्छतु। अद्यैव वा मरणम् अस्तु युगान्तरे वा, धीराः न्याय्यात् पथः पदं न प्रविचलन्ति।

शब्दार्थ—नीतिनिपुणाः=नीति कुशल जन, निन्दन्तु, यदि वा स्तुवन्तु= निन्दा करें अथवा स्तुति करें, लक्ष्मीः समाविशतु यथेष्टं वा गच्छतु=लक्ष्मी आये अथवा स्वेच्छानुसार चली जाये, अद्यैव वा मरण मस्त युगान्तरे वा= चाहे आज ही मरण हो अथबा युगान्तर में (परन्तु) धीराः नाय्यात् पथः पदं

न प्रविचलन्ति=धैर्यशाली जन न्याय के मार्ग से एक पग भी विचलित नहीं होते।

अनुवाद—नीति कुशल जन चाहे निन्दा करें अथवा प्रशंसा, लक्ष्मी आ जाये अथवा स्वेच्छानुसार चली जाये, चाहे आज ही मरण हो अथवा युगान्तर में, परन्तु धैर्यशाली जन न्याय के मार्ग से एक पग भी विचलित नहीं होते।

भावार्थ—धैर्यवान् लोग अपने निश्चित मार्ग से कभी विचलित नहीं होते चाहे उन्हें अपने सुनिश्चित मार्ग पर चलते समय लोग उनकी निंदा करें अथवा प्रशंसा, लक्ष्मी प्राप्त हो और नष्ट हो जाय, तुरन्त ही भले ही उनका मरण ही क्यों न हो जाय अथवा वे युगों जीते रहें चाहे जो भी हो पर वे अपना मार्ग नहीं छोड़ते।

विशेष—वसन्त तिलका छन्द है।

प्रसंग—धैर्यगुण का किसी भी प्रकार तिरस्कार नहीं किया जा सकता इसी बात का निर्देश करते हुये कवि कहता है—

कदर्थितस्यापि हि धैर्यवृत्तेः
न शक्यते धैर्यगुणः प्रमार्ष्टुम् ।
अधो मुखस्यापि कृतस्य वह्नेः
नाधः शिखा यान्ति कदाचि देव ।।७७।।

अन्वय—कदर्थितस्य अपि धैर्यवृत्तेः धैर्यगुणः प्रमार्ष्टुम् न हि शक्यते, अधो मुखस्य कृतस्य अपि वह्नेः शिखा कदाचित् एव अधः न यान्ति।

शब्दार्थ—कदर्थितस्यापि धैर्यवृत्तेः=तिरस्कृत या पीड़ित किये गये भी धैर्यवान् पुरुष का, धैर्यगुणः प्रमार्ष्टुं नहि शक्यते=धैर्य-गुण नहीं मिटाया जा सकता, अधोमुखस्य कृतस्यापि वह्नेः=नीचे की ओर मुख की हुई भी अग्नि की शिखा कदाचित एव न अधः यान्ति=शिखा कदापि भी नीचे की ओर नहीं जाती।

अनुवाद—तिरस्कृत या पीड़ित किये गये भी धैर्यशाली पुरुष का धैर्यगुण मिटाया नहीं जा सकता, नीचे की ओर मुख की हुई भी अग्नि की शिखा कभी भी नीचे की ओर नहीं जाती।

भावार्थ—प्रयत्न करके भी, पीड़ा पहुँचा करके भी अथवा अपमानित करके भी धैर्यवान का धैर्य गुण मिटाया नहीं जा सकता, जैसे अग्नि को भले

ही अधोमुख कर दिया जाय पर उसकी शिखा सदा ऊपर की ओर ही जायेगी, नीचे की ओर कदापि नहीं। यही प्रवृत्ति धैर्यशाली जनों की होती है। क्योंकि अग्नि ज्वाला के लिए "प्रसिद्ध मूर्ध्वंज्वलनं हविर्भुजः' यह वचन प्रसिद्ध ही है।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में दृष्टान्तालंकार है 'यत्र वाक्यद्वये विम्वप्रतिविम्वतयोच्यते, सामान्य धर्मो वाक्यज्ञैः स दृष्टान्तो निगद्यते"। उपजाति नामक छन्द है।

प्रसंग—यथा कथञ्चित् बन्धन या मरण भी श्रेष्ठ है पर सत्स्वभाव का त्याग करना उचित नहीं। इसी बात का निर्देश देता हुआ कवि कहता है—

वरं शृंगोत्संगा द्गुरुशिखरिणः क्वापि विषमे,
पतित्वायं कायः कठिनदृषदन्ते विगलितः
वरं न्यस्तो हस्तः फणिपतिमुखे तीक्ष्ण दशने,
वरं वह्नौ पातस्तदपि न कृतः शीलविलय ॥७८॥

अन्वय—अयम् कायः गुरुशिखरिणः शृङ्गोत्सङ्गात् क्व अपि विषमे कठिन दृषदन्ते पतित्वा विचलितः (चेत्) वरम्, तीक्ष्ण दशने फणिपतिमुखे हस्तः न्यस्तः (चेत्) वरम्, वह्नौ पातः (चेत्) वरम् (किन्तु) शीलविलयः कृतः (चेत्) तदपि व वरम्।

शब्दार्थ—अयं कायः=यह शरीर, गुरुशिखरिणः=उन्नत पर्वत के शृंङ्गोत्संगात्=शिखर के अग्रभाग मे, क्वपि विषमे कठिनदृषदन्ते=कहीं विकट कर्कश पाषाण के बीच, पतित्व विगलितः चेत्=गिर कर चाहे खण्ड खण्ड हो जाए, वरम्=तो भी अच्छा है। हस्तः तीक्ष्ण दशने फणि-पतिमुखे न्यस्तः (अपि) वरम्=हाथ, तीक्ष्णविषदन्तों वाले, फणिपतिमुखे=महासर्प के मुख में, न्यस्तः वरम्=रख दिया गया भी अच्छा है। वरं वह्नौ पातः=अग्नि में कूद पड़ना भी अच्छा है, तदपि शीलविलयः न कृतः=यदि सत्स्वभाव का त्याग कर दिया गया तो वह अच्छा नहीं है।

अनुवाद—यह शरीर ऊँचे पर्वत के शिखर के अग्रभाग से कहीं विकट कर्कश पाषाणों के बीच गिर कर यदि खण्ड खण्ड हो जाय तो भी अच्छा है, यदि तीक्ष्ण विषदन्तों वाले महासर्प के मुख में भी (जानबूझकर) हाथ डाल दिया जाय तो भी अच्छा है, अग्नि में कूद पड़ना भी अच्छा है, किन्तु यदि सत्स्वभाव का त्याग कर दिया गया तो वह कदापि ठीक नहीं है।

भावार्थ—शरीर रक्षा से भी बढ़कर शील रक्षा है। भले ही शरीर पर्वत शिखर से शिलातल पर गिर कर नष्ट हो जाय पर शील सुरक्षित रहना चाहिये। इसी प्रकार सर्प के मुख में हाथ डाल देना और वह्नि में प्रवेश करना भी अच्छा है पर शील का त्याग करना कदापि उचित नहीं है।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में शिखरिणी छन्द है।

प्रसंग—शील की रक्षा अवश्य करणीय है, क्योंकि इससे अनेक लाभ हैं। इसी बात का निर्देश करता हुआ कवि कहता है।

वह्निस्तस्य जलायते जलनिधिः कुल्यायते तत्क्षणात्,
मेरुः स्वल्पशिलायते मृगपतिः सद्यः कुरंगायते।
व्यालो माल्यगुणायते विषरसः पीयूषवर्षायते,
यस्यांगेऽखिल लोकवल्लभतरं शीलं समुन्मीलति ।।७६।।

अन्वय—तस्य (पुरुषस्य) वह्निः जलायते, जलनिधिः तत् क्षणात् कुल्यायते मेरुः स्वल्पशिलायते, मृगपतिः सद्यः कुरङ्गायते, व्यालः माल्यगुणायते, विषरसः पीयूषवर्षायते यस्य अङ्गे अखिल लोकवल्लभतरं शीलं समुन्मीलति।

शब्दार्थ—तस्य पुरुषस्य=उस पुरुष के लिये, वह्निः जलायते=अग्नि जलवत् बन जाती है, जलनिधिः तत्क्षणात् कुल्यायते=समुद्र तुरन्त ही छोटी नहर बन जाता है, मेरुः स्वल्पशिलायते=अत्युच्च मेरु पर्वत भी छोटी शिला बन जाता है, मृगपतिः सद्यः कुरङ्गायते=सिंह तुरन्त ही मृग बन जाता है, व्यालः माल्यगुणायते=सर्प पुष्प माला बन जाता है, विषरसः पीयूस वर्षायते= विषरस अमृत की वर्षा बन जाता है, यस्याङ्गे=जिसके शरीर में, अखिल-लोक वल्लभतरं शीलम्=सब लोगों का अत्यन्त प्रीतिजनक शील, समुन्मीलति=प्रकट होता है।

अनुवाद—उस पुरुष के लिये अग्नि जल बन जाती है, समुद्र तुरन्त ही छोटी नहर बन जाता है, अत्युच्च मेरु पर्वत भी छोटी शिला बन जाता है, सिंह तुरन्त ही मृग बन जाता है। सर्प पुष्प माला बन जाता है, विषरस अमृत की वर्षा बन जाता है जिसके शरीर में सब लोगों का अतिप्रीति जनक शील (सत्स्वभाव) प्रकट होता है।

शब्दार्थ—जो पुरुष शीलवान् होता है उसके लिये कोई पदार्थ या कोई कार्य दुर्लभ या दुःसाध्य नहीं होता अर्थात् वह सब कुछ करने और सब कुछ

पाने में समर्थ होता है। अति भयानक जीव भी उसके लिये कोमल स्वभाव वाले हो जाते हैं और दुःसाध्य पदार्थ भी सरलता से प्राप्तव्य हो जाते हैं। अग्नि जैसा दाहक पदार्थ जलवत् शीतल लगने लगता है, सुदुस्तर भी समुद्र एक छोटी नहर जैसा लगने लगता है, अत्युच्च मेरु पर्वत भी एक छोटी शिला जैसा जान पड़ने लगता है, सिह भी मृगवत् सरल जीव बन जाता है, भीषण सर्प भी पुष्पमाला के समान, और विषरस भी अमृत वर्षा के समान बन जाता है अतः ये सभी दुस्तर पदार्थ शीलवान् के लिये अतिसरल हो जाते हैं।

विशेष—उपमा का ही भेद यह एक अलंकार है।

प्रसंग—सत्पुरुष विपत्ति से नहीं घबड़ाते क्योंकि कुछ समय बाद विपत्ति टल जाती है, इसी बात का निर्देश करता हुआ कवि कहता है—

छिन्नोऽपि रोहति तरुः क्षीणोऽप्युपचीयते पुनश्चन्द्रः।
इति विमृशन्त सन्तः सन्तप्यन्ते न विश्लथेषु लोकेषु[1] ॥८०॥

अन्वय—छिन्नः अपि तरुः रोहति, क्षीणः अपि चन्द्रः पुनः उपचीयते, इति विमृशन्तः सन्तः विश्लथेषु लोकेषु न सन्तप्यन्ते।

अनुवाद—कटा हुआ वृक्ष भी बढ़ जाता है, क्षीण हुआ चन्द्रमा भी फिर बढ़ जाता है यह सोचते हुये सत्पुरुष बन्धु जनों के विश्लिष्ट होने पर भी दुखी नहीं होते (क्योंकि वे जानते हैं कि वे फिर मिल जायेंगे)।

शब्दार्थ—छिन्नो ऽपि तरुः रोहति=कटा हुआ भी वृक्ष बढ़ जाता है। क्षीणोऽपि चन्द्रः पुनः उपचीयते=क्षीण हुआ भी चन्द्रमा फिर बढ़ जाता है, इति विमृशन्तः सन्तः विश्लथेषु लोकेषु न सन्तप्यन्ते=ऐसा सोचते हुये सत्पुरुष बन्धुजनों के विश्लिष्ट हो जाने पर भी दुःखी नहीं होते।

भावार्थ—सुख और दुःख की अवस्था सदा एकसी नहीं रहती, दुःख के बाद सुख भी आता है, संसार चक्र का ऐसा ही नियम है। कटा हुआ भी वृक्ष तथा क्षीण हुआ भी चन्द्रमा कालान्तर में बढ़ जाता है। यह समझते हुये सत्पुरुष कभी विपत्तिकाल में घबड़ाते नहीं, अपितु धैर्यशाली बने रहते हैं।

विशेष—आर्याजाति छन्द है।

---

१. विश्लथेषु लोकेषु के स्थान 'न ते विपदा' भी पाठान्तर है वहाँ इसका अर्थ है कि वे विपत्ति से दुखी नहीं होते।

प्रसंग—शील ही परम भूषण है इसी बात का निर्देश करता हुआ कवि कहता है—

ऐश्वर्यस्य विभूषणं सुजनता शौर्यस्य वाक्संयमो,
ज्ञानस्योपशमः श्रुतस्य विनयो वित्तस्य पात्रे व्ययः ॥
अक्रोधस्तपसः क्षमा प्रभवितु धर्मस्य निर्व्याजता,
सर्वेषामपि सर्वकारणमिदं शीलं परं भूषणम् ॥८१॥

अन्वय—सुजनता ऐश्वर्यस्य विभूषणम्, वाक्संयमः शौर्यस्य, उपशमः ज्ञानस्य, विनयः श्रुतस्य, पात्रे व्ययः वित्तस्य, अक्रोधः तपसः, क्षमा प्रभवितुः, निर्व्याजिता धर्मस्य, सर्वकारणम इदं शीलम् सर्वेषाम् अपि विभूषणम् ।

शब्दार्थ—सुजनता=सज्जनता, ऐश्वर्यस्य=साम्राज्याधिपत्य का, विभूषणम् =अलंकार (है) वाक्संयमः=आत्मश्लाघा से रहित होना, शौर्यस्य=वीरता का, उपसमः=शान्ति, श्रुतस्य=विद्याध्ययन का, पात्रेव्ययः=सत्पात्र में दान देना, तपसः=व्रतोपवासादिनियम का, प्रभवितुः=सामर्थ्यवान् पुरुप का, निर्व्याजिता=दम्भ का न होना, सर्वकारणम्=सभी ऐश्वर्य आदि का मात्र कारण, इदं शीलं सर्वेषां भूषणम्=वह सत्स्वभाव सबका अलंकरण होता है ।

अनुवाद—सज्जनता साम्राज्याधिपत्य का अलंकार है । आत्मश्लाघा का न होना वीरता का, शान्ति ज्ञान का, विनय विद्याध्ययन का, सत्पात्र में दान देना धन का व्रतोपवासादिनियम का, अक्रोध तप का, क्षमा सामर्थ्यवान पुरुष का, दम्भराहित्य धन का अलंकरण है और सभी ऐश्वर्य आदि का एक मात्र कारण भूत यह सत्स्वभाव परमोत्तम अलंकार है ।

भावार्थ—वस्तुतः स्वर्णादि निर्मित आभूषण मानव के सच्चे आभूषण नहीं है, मानव भूषण तो उसके सद्गुण ही होते हैं जो कि उसमें स्वभावसिद्ध होते हैं । ऐश्वर्य का विभूपण दुष्टता नहीं अपितु सुजनता है, आत्मश्लाघा से रहित होना ही वीरता का आभूषण है क्योंकि अभियुक्तों का कथन है कि सुजनता व्यंजन के समान होती है और वह सबका परिताप दूर करती है : "सुजनं व्यजनं मन्ये सदा सद्वंश सम्भवम् । स्वपरिभ्रमणेनैव तापं हरति देहिनाम्" ॥ ज्ञान की शोभा शान्ति है, इसी प्रकार विद्याध्ययन का अलंकार विनयशीलता है । क्रोध से रहित होना ही तप का अलंकार है, सामर्थ्यवान् की शोभा क्षमाशीलता है जैसा कि आचार्य चाणक्य ने कहा है—"शक्तानां भूषणं

क्षमा"। दम्भ पाखण्ड से रहित होना ही दानादि रूप धर्म का विभूषण है जैसा कि कहा गया है—

"अन्यायवित्तेन कृतो हि धर्मः सव्याज इत्याहुरशेषलोकाः।
न्यायार्जितेऽर्थे स स एव धर्मो निर्व्याज इत्यार्थजना वदन्ति॥"

इतने गुणों के होते हुए भी सत्स्वभाव का होना ही सर्वोत्तम आभूषण है।

विशेष—शार्दूल विक्रीडित छन्द है।

(अथ दैव पद्धतिः)

धैर्य शील शौर्य आदि भी दैवाधीन होते हैं, अतः इनके निरूपण के बाद दैव का निरूपण ही अवसर प्राप्त है, अतएव कवि अब दैव का निरूपण कर रहा है।

प्रसंग—पुरुषार्थ से बढ़कर दैव ही है, इसी बात का निर्देश करता हुआ कवि कहता है—

नेता यस्य वृहस्पतिः प्रहरणं वज्रं सुराः सैनिकाः,
स्वर्गो दुर्गमनुग्रहः खलु हरे रैरावणो रावणः[1]।
इत्याश्चर्यवलान्वितोऽपि वलभिद् भग्नः परैः संगरे,
तद् व्यक्त खलु दैवमेव शरणं धिग्धिग्वृथा पौरुषम्। ८२॥

अन्वय—वृहस्पतिः यस्य नेता, वज्रम् प्रहरणम्, सुराः सैनिकाः, स्वर्गः दुर्गम्, हरेः अनुग्रहः, रावणः ऐरावणः, इति आश्चर्य वलान्वितः अपि वलभिद संगरे परैः भग्नः, तद् व्यक्तं दैवम् एव शरणं ननु, पौरुषम् वृथा धिक्धिक्।

शब्दार्थ—वृहस्पतिः=देवगुरु, यस्य=जिसका, नेता=शिक्षक, प्रहरणां वज्रम्=वज्र (जिसका) अस्त्र, सुराः सैनिकाः—देवतागण (जिसके) सैनिक, स्वर्गः दुर्गम्=स्वर्ग (जिसका) किला, हरेः अनुग्रहः=विष्णु का अनुग्रह, रावणः ऐरावणः=प्रधान गज (जिसका) दिग्गजेन्द्र था, इत्याश्चर्यवलान्वितः अपि बलभित्=इस प्रकार के अत्युन्नत शक्ति से समन्वित भी इन्द्र, संगरे परैः भग्नः =संग्राम में दानवों द्वारा पराजित कर दिये गये, तद् व्यक्तम्=इससे स्पष्ट

---

१. 'ऐरावणो रावणः' के स्थान पर 'ऐरावतो वारणः' भी पाठान्तर है जिसका अर्थ गजराज ऐरावत है, यह पाठ अधिक सरल है। इसी प्रकार 'इत्याश्चर्य' के स्थान पर 'इत्यंश्वर्य' तथा वरमेव दैवशरणं भी पाठान्तर है पर अर्थ में विशेष अन्तर नहीं है।

है, दैवमेव शरणं खलु=कि केवल दैव ही रक्षक है, पौरुषं=पुरुषार्थ, वृथा व्यर्थ है (अतः) धिक् धिक्=इस पुरुषार्थ को धिक्कार है।

अनुवाद—जिस इन्द्र का शिक्षक देवगुरु बृहस्पति था, वज्र जैसा जिसका अस्त्र था, देवगण जिसके सैनिक थे, स्वर्ग जिसका किला था, विष्णु का जिस पर अनुग्रह था, जिसका प्रधान गज दिग्गजेन्द्र था, इस प्रकार का असाधारण उन्नत शक्ति से समन्वित भी इन्द्र दानवों द्वारा संग्राम में पराजित कर दिया गया, इससे स्पष्ट है कि केवल एक मात्र दैव ही रक्षक है, शरण देने वाला है, पुरुषार्थ वृथा है अतः उसे धिक्कार है।

भावार्थ—वस्तुतः दैव के आगे पुरुषार्थ की कोई शक्ति नहीं रहती, होता वही है जो दैव प्रदत्त होता है। मनुष्य चाहे जैसे उत्तम से उत्तम साधनों से सम्पन्न हो, पर होगा वही जो भाग्यविहित होगा। देवाधिराज इन्द्र भी जब सभी साधनों से सम्पन्न होकर भी दानवों मे पराजित हो गये तो मनुष्य की क्या शक्ति, जो दैव के विपरीत कोई कार्य कर सके, अतः पुरुषार्थ या आत्म-पौरुष व्यर्थ है, दैव ही परम बल है।

विशेष—साभिप्राय विशेषण होने से परिकरालंकार है, और शार्दूल विक्रीडित छन्द है।

प्रसंग—बन्धन मोक्ष तथा लाभ हानि का भी कारण दैव ही है। इसी बात का निर्देश करता कवि कहता है—

भग्नाशस्य करण्डपिण्डित[1] तनो र्म्लानेन्द्रियस्य क्षुधा,
कृत्वाखु र्विवरं स्वयं निपतितो नक्तं मुखे भोगिनः।
तृप्तस्तत्पिशितेन सत्वरमसौ तेनैव यातः पथा,
स्वस्थास्तिष्ठत दैवमेव हि परं वृद्धौ क्षये कारणम् ॥८३॥

अन्वय—आखुः नक्तम् विवरम् कृत्वा, भग्नाशस्य करण्डपिण्डिततनोः क्षुधा मम्लानेन्द्रियस्य भोगिनः मुखे स्वयं निपतितः, तत्पिशितेन तृप्तः असो सत्वरम् तेन एव पथा यातः, (अतः) स्वस्थाः तिष्ठत, हि दैवम् एव वृद्धौ क्षये कारणम्।

---

१. 'पिण्डित' के स्थान पर 'पीडित' तथा 'स्वस्थास्तिष्ठतः' के स्थान पर 'लोकाः पश्यत' भी पाठान्तर है पर अर्थ में कोई विशेष अन्तर नहीं है।

शब्दार्थ—आखुः=चूहा, नक्तम्=रात्रि में, विवरं कृत्वा=(पिटारी में) बिल बनाकर अर्थात् सर्प की पिटारी में ही (पिटारी में माँस खाने की इच्छा से) बिल (छेद) करके, भग्नाशस्य=नष्ठ हुई जीवनाशा वाले, करण्डपिण्डित-तनोः=सर्पपिटारी में वलयित (कुण्डली के आकार में) शरीर वाले, क्षुधा म्लानेन्द्रियस्य=भूख से विनष्ट इन्द्रिय शक्ति वाले, भोगिनः=सर्प के, मुखे स्वयं निपतितः=मुख में स्वयं ही गिर पड़ा, तत्पिशितेन तृप्तः=उसके माँस से परितृप्त हुआ, असौ=यह सर्प, सत्वरम्=शीघ्र ही, तेनैव पथा=चूहे द्वारा किये गये उस छेद से, यातः=बाहर निकल गया, स्वस्थाः तिष्ठत=हे संसार के प्राणियों। आप लोग स्थिरचित्त निश्चिन्त होकर रहें, हि दैवमेव=क्योंकि भाग्य ही, वृद्धौ क्षये कारणम्=उन्नति और अवनति मे कारण है।

अनुवाद—चूहा रात्रि के समय (सर्प पिटारी में मांस खाने की इच्छा से) छेद करके, जीवन से निराश तथा पिटारी में कुण्डलीकृत शरीर वाले एवं भूख से नष्टेन्द्रिय शक्ति वाले सर्प के मुख में अपने आप गिर पड़ा, उसके मांस से परितृप्त हुआ वह सर्प शीघ्र ही (उसी के द्वारा बनाये गये) उसी छेद से निकल गया (कवि कहता है कि) मानवो! निश्चिन्त रहो, मानवीय उन्नति और अवनति का कारण भाग्य ही है और कुछ नहीं। अर्थात् इस मूषक और सर्प के दृष्टान्त से लोगों को यह जान लेना चाहिये कि सब को निश्चिन्त रहना चाहिये, क्योंकि उनकी उन्नति और अवनति का कारण केवल भाग्य ही है, और कुछ नहीं, अतः निष्प्रयोजन पुरुषार्थ की आवश्यकता नहीं।

भावार्थ—भाग्य से मिलने वाली वस्तु को मनुष्य प्राप्त करता है, और भाग्यहीन को वह वस्तु प्रयत्न करने पर भी प्राप्त नहीं। भाग्य बल से असम्भव कार्य भी सम्भव हो जाते हैं। सर्प जब जीवन से निराश होकर पिटारी में बन्द भूख से छटपटा रहा था, चूहा उस पिटारी में छेद कर स्वयं जाकर सर्प के मुँह में पड़ गया जिससे उसकी क्षुधा भी शान्त हो गई और वह उसी मार्ग से बाहर भी निकल गया। यह सब भाग्य का कौशल ही था। इससे स्पष्ट है कि मनुष्य की उन्नति एवं अवनति का कारण उसका भाग्य ही होता है, पुरुषार्थ नहीं।

विशेष—शार्दूल विक्रीडित छन्द है।

प्रसंग—सब की उन्नति और अवनति का कारण दैव ही है, कन्दुक के दृष्टान्त द्वारा इसी बात का निर्देश करता हुआ कवि कहता है—

यथा कन्दुक पातेनोत्पतत्यार्यः पतन्नपि ।
तथा स्वनार्यः पतति मृत्पिण्डपतनं यथा ।।८४।।

अन्वय—आर्यः=दैवायतिक—दैव पर निर्भर रहने वाला, कन्दुक पातेन =गेंद के गिरने के समान, पतन् अपि उत्पतति=कारणवश अवनति को प्राप्त होकर भी पुनः उन्नति करता है, अर्थात् जिस प्रकार गेंद नीचे क्षणमात्र के लिये गिरकर भी पुनः ऊपर उछलता है, उसी प्रकार आर्य अवनति प्राप्त कर भी पुन: उन्नति प्राप्त करता है। अनार्यः तु तथा पतति=परन्तु अनार्य—भाग्य को न मानने वाला इस प्रकार गिरता है, यथा मृत्पिण्ड-पतनम् =जैसे मिट्टी के गोले का गिरना, अर्थात् मिट्टी का गोला, जिस प्रकार एक बार भूमि पर गिरकर पुनः अपने आप उठ नहीं सकता उसी प्रकार अनार्यजन एक बार अवनति को प्राप्त कर पुन: उन्नति नहीं कर सकता।

अनुवाद—दैवायतिक गेंद के अधः पतन की भाँति अवनति प्राप्त करता हुआ भी पुन: उन्नति प्राप्त करता है जैसे कन्दुक नीचे गिरकर भी पुन: ऊपर उछल जाता है, परन्तु अनार्य मिट्टी के गोले के अधः पतन की भाँति अवनति को प्राप्त होता है अर्थात् जिस प्रकार मिट्टी का गोला एक बार भूमि पर गिर कर पुन: नहीं उठता उसी प्रकार अनार्य अवनति में पड़कर फिर उन्नति नहीं कर पाता।

भावार्थ—श्रेष्ठ जनों की उन्नति और अवनति के लिये कन्दुकपात और अनार्य जनों की अवनति के लिये मृत्पिण्ड पतन दृष्टान्त है। इससे यही सिद्ध होता है कि सभी लोगों की उन्नति और अवनति के लिये दैव ही प्रधान कारण है।

प्रसंग—भाग्यहीन के लिये कहीं भी सुख की प्राप्ति नहीं होती, इसी बात का निर्देश करता हुआ कवि कहता है—

खल्वाटो दिवसेश्वरस्य किरनैः सन्तापिते[1] मस्तके,
गच्छन्देशमनातपं द्रुतगतिस्तालस्य मूले स्थितः।
तत्राप्यस्य महाफलेन पतता भग्नं सशब्दं शिरः
प्रायो गच्छति यत्र दैवहतकस्तत्रैव यान्त्यापदः ।।८५।।

---

१. 'सन्तापिते" के स्थान पर 'सन्तापितो' "गच्छन्" के स्थान पर "वाच्छन्" "द्रुतगतिः" के स्थान पर "विधिवशात्" और 'दैवहतकः' के स्थान पर 'भाग्य रहितः" भी पाठान्तर है पर अर्थ में कोई विशेष अन्तर नहीं है।

अन्वय—खल्वाट: दिवसेश्वस्य किरणै: मस्तके सन्तापिते सति द्रुतगति: (सन्) अनातपम् देशम् गच्छन् तालस्य मूले स्थित:, तत्रापि पतता महाफलेन अस्य शिर: सशब्दं भग्नम्, प्राय:दैवहतक: यत्र गच्छति तत्रैव आपद: यान्ति:।

शब्दार्थ—खल्वाट=गंजा अर्थात् किसी कारणवश जिसके तालु पर से बाल उड़ जाते है और शिर का आगे का भाग चिकना हो जाता है, लोक भाषा में गंजा कहा जाता है। दिवसेश्वरस्य किरणै:=सूर्य की किरणों से, मस्तके सन्तापिते सति=मस्तक के संतप्त होने पर अर्थात् तेज धूप से जलने लगने पर, द्रुतगति:=अतिशीघ्र चलता हुआ, अनातपं देशं गच्छन्=धूप रहित स्थान पर जाता हुआ, तालस्य मूले स्थित:=ताड़ वृक्ष के नीचे खड़ा हो गया। तत्रापि=वहाँ भी, पतता महाफलेन=गिरते हुये बहुत बड़े फल से, अस्य शिर: सशब्दं भग्नम्=उसका शिर ध्वनि के साथ टूट गया। दैवहतक:=भाग्यहीन।

अनुवाद—खल्वाट (गंजा) सूर्य की किरणों से मस्तक के संतप्त होने पर शीघ्रतापूर्वक चलता हुआ (किसी) धूप रहित स्थान पर जाता हुआ ताड़ के वृक्ष के नीचे खड़ा हो गया, वहाँ भी गिरते हुये विशाल फल से, इसका शिर शब्दायमान होकर फट गया प्राय: भाग्यहीन मनुष्य जहाँ जाता है, आपत्तियाँ वहाँ ही पहुँच जाती हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार भाग्यवान् कहीं भी कैसी भी स्थिति में क्यों न रहे सदा सुख ही पाता है, उसी प्रकार भाग्यहीन चाहे जितना आत्मरक्षार्थ प्रयत्न कर लें पर विपत्तियाँ उसका पीछा नहीं छोड़तीं, अत: सिद्ध है कि मानव के सुख दु:खों का कारण भाग्य ही है।

विशेष—शार्दूल विक्रीडित छन्द है।

प्रसंग—भाग्य ही सर्वत्र बलवान् होता है, देवता भी भाग्य चक्र का उल्लंघन नहीं कर सकते, इसी बात का निर्देश करता हुआ कवि कहता है—

गजभुजंगविहंगमबन्धनं,[1]
शशिदिवाकरयो र्ग्रहपीडनम्।
मतिमतां च निरीक्ष्य दरिद्रतां
विधि रहो बलवानिति मे मति: ॥८६॥

---

१ प्रथम 'पंक्ति के स्थान पर 'गजभुजंग मयोरपि बंधनम्' भी पाठान्तर है।

अन्वय—गजभुजंगविहङ्गमबन्धनम्, शशिदिवाकरयोः ग्रहपीडनम्, मतिमतां दरिद्रतां च निरीक्ष्य' विधिः अहो बलवान्, इति मे मतिः (अस्ति)

शब्दार्थ—गजभुजंगविहङ्गमबंधनम्,=(अण्यसंचारी भयानक मतवाले) गजों का, (बिलशायी विषाग्नि से भीषण) सर्पों का तथा (अन्तरिक्षचारी) पक्षियों का (जाल आदि के द्वारा) बाँधा जाना, शशिदिवाकरयोः=चन्द्र और सूर्य का, ग्रहपीडनम्=राहु द्वारा ग्रसित होना, और, मतिमतां दरिद्रतां च निरीक्ष्य=बुद्धिमानों की दरिद्रता को देखकर, अहो विधिः एव बलवान् इति मे मतिः=सचमुच सर्वत्र भाग्य ही बलवान् होता है, यह मेरा निश्चय है (भाग्य के आगे तेज, बल, पौरुष आदि कुछ नहीं)।

अनुवाद—हाथी, सर्प और पक्षियों का बंधन, चन्द्र-सूर्य का राहु द्वारा ग्रसित होना तथा विद्वानों की दरिद्रता देखकर मेरा ऐसा निश्चय है कि सर्वत्र भाग्य ही बलवान् होता है बल पौरुष आदि नहीं।

भावार्थ—भयानक से भयानक जीवों का बंधन ग्रस्त होना तथा चन्द्र सूर्य जैसे तेजस्वियों का भी ग्रह ग्रस्त होना और विद्वानों की दरिद्रता को देखकर यही कहना पड़ता है कि सभी कार्यों के लिये सर्वत्र भाग्य ही बलवान् होता है बलपौरुषादि कुछ नहीं।

विशेष—द्रुतविलम्बित नामक छन्द है।

प्रसंग—विधि की अनभिज्ञता का प्रतिपादन करता हुआ कवि कहता है—

सृजति तावदशेषगुणाकरं, पुरुषरत्नमलंकरणं भुवः।
तदपि तत्क्षण भंगि करोति चेदहह कष्टमपण्डितता विधेः॥८७॥

अन्वय—विधिः अशेषगुणाकरम् भुवः अलंकरणम् पुरुषरत्नम् सृजति तावत्, तदपि तत्क्षणभङ्गि करोति चेत्, अहह विधेः अपण्डितता कष्टम्।

शब्दार्थ—विधिः=ब्रह्मा, अशेषगुणाकरम्=सकल गुण निधान, भुवः अलंकरणम्=पृथ्वी का आभूषण, पुरुषरत्नम्=पुरुषश्रेष्ठ को, सृजति तावत्=बनाता तो है, तदपि=उस पुरुष रत्न को भी, तत्क्षणभङ्गि=उसी काल नष्ट हो जाने वाला अर्थात् अल्प काल स्थायि, करोति=कर देता है, अहह=खेद की बात है कि, विधेः=ब्रह्मा की, अपण्डितता=मूर्खता, कष्टम्=कष्टकर है।

अनुवाद—ब्रह्मा सकल गुण निधान पृथ्वी का आभूषण रूप पुरुषरत्न बनाता तो है परन्तु वह उसे भी अल्पकाल स्थायी ही कर देता है, खेद की बात है कि ब्रह्मा की यह मूर्खता कितनी कष्टकर है।

भावार्थ—वस्तुतः विशिष्ट पुरुष का अल्पकाल स्थायी होना ब्रह्मा की मूढ़ता सूचित करता है अतएव वह साधारणा जनों के लिये कष्टकर है

विशेष—पूर्ववत् ही छन्द है।

प्रसंग—उक्त विषय का ही प्रतिपादन करता हुआ कवि कहता है—

येनैवाम्बरखण्डेन संवीतो निशि चन्द्रमाः।
तेनैव च दिवा भानुरहो दौर्गत्यमेतयोः ॥८८॥

अन्वय—निशि चन्द्रमाः येन एव अम्बरखण्डेन संवीतः, दिवा तेन एव तावता एव (अम्बरखण्डेन) भानुः (संवीतः) (अतः) अहो एतयोः दौर्गत्यम्।

शब्दार्थ—निशि=रात्रि में, चन्द्रमाः=चन्द्र, येनैव अम्बरखण्डेन=जितने ही वस्त्रखण्ड से, संवीतः=आच्छादित होता है, दिव=दिन में, भानुः=सूर्य, तेनैव=उतने ही वस्त्रखण्डेन आच्छादित होता है। अहो=आश्चर्य है कि, एतयोः=इन दोनों सूर्य चन्द्र की, दौगत्यम्=संकुचित दशा प्राप्ति।

अनुवाद—रात्रि में चन्द्रमा जितने वस्त्रखण्ड से आच्छादित होता है उतने ही वस्त्रखण्ड से दिन में सूर्य भी आच्छादित होता है, इन दोनों ही की इस संकुचित दशा की प्राप्ति वस्तुतः आश्चर्यजनक है। अर्थात् असंख्य योजन परिमित विस्तीर्ण मण्डल के अधिष्ठाता होने पर भी इन दोनों देवताओं का परिमित अम्बरखण्ड से आच्छादित होकर संकुचित दशा को, भाग्यवश प्राप्त होना आश्चर्य की बात है। यह सब भाग्य का ही विलसित है।

भावार्थ—सब प्राणी भाग्याधीन हैं, चाहे वे देवता हों या मानव, भाग्यतः लब्ध वस्तु मात्र या स्थान मात्र से ही उन्हें रहना पड़ता है। अतः भाग्यविधान का कोई उल्लंघन नहीं कर सकता।

प्रसंग—सकल साधन सम्पन्न व्यक्ति भी भाग्य का उल्लंघन नहीं कर सकता, इसी बात को बतलाता हुआ कवि कहता है—

अयममृतनिधानं नायकोऽप्योषधीनां,
शतभिषगनुयातः शम्भुमूर्ध्नोऽवतंसः ।
विरहयति न चैनं राजयक्ष्मा शशांकं,
हतविधिपरिपाकः केन वा लंघनीयः ॥८९॥

अन्वय—अयम् अमृतनिधानम्, ओषधीनां नायकः अपि, शतभिषगनुयातः शम्भुमूर्ध्नः अवतंसः (अपि भवति) तथपि एवं शशाङ्कम् च राजयक्ष्मा नैव विरहयति, हतविधिपरिपाकः केन लंघनीयः वा ।

शब्दार्थ—अयम् = यह परिदृश्यमान चन्द्रमा, अमृतनिधानं = अमृत का निधि, ओषधीनां नायकः अपि = संजीवनी आदि औषधियों का स्वामी होकर भी, शतभिषगनुयातः = शतभिषक् नामक नक्षत्र से अनुगम्यमान (यहाँ श्लेष के द्वारा शतभिषक् का अर्थ सौ वैद्यों-चिकित्सकों से अनुगम्यमान होकर भी है।) शम्भु-मूर्ध्नः = (श कल्याणां भवति अस्मात् इस विग्रह से शम्भु का अर्थ सकल लोक कल्याणाकारी है) ऐसे शम्भु के मस्तक का, अवतंस = शिरोभूषण भी होता है, तथापि, एनं शशांकम् च = और इस चन्द्रमा को, राजयक्ष्मा नैव विरहयति = राजयक्ष्मा एक क्षीणता का रोग या क्षयरोग नहीं छोड़ता है। हतविधि- परिपाकः = भाग्यहीन का परिणाम, केन लंघनीयः वा = किस के द्वारा उल्लंघनीय होता है ?

अनुवाद—यह परितः दृश्यमान चन्द्रमा अमृतनिधि (होता है) संजीविनी आदि औषधियों का स्वामी भी (होता है) सैकड़ों चिकित्सकों से (श्लेष के द्वारा शतभिषक् का अर्थ एतन्नामक नक्षत्र तथा वैद्य भी है) अनुगम्यमान (होता है) एवं सकल लोक कल्याण विधायक शम्भु के शिर का आभूषण भी होता है। तथापि इस चन्द्र को राजयक्ष्मा-क्षयरोग नहीं छोड़ता है, इस लिये भाग्यहीन का परिणाम किस के द्वारा उल्लंघनीय होता है ? अर्थात् किसी के द्वारा भी नहीं ।

भावार्थ—वस्तुतः जिसका भाग्य प्रतिकूल है उसके अनेक साधन सम्पन्न होने पर भी कुछ नहीं होता और भाग्य का दुष्परिणाम उसे भोगना ही है, और वह संजीविनी आदि औषधियों का स्वामी भी है, इतना ही नहीं

उसके पीछे-पीछे अनेक चिकित्सक भी चलते रहते हैं, एवं वह शिव जी के मस्तक का आभूषण भी है जो कि शिव सकल लोकों का कल्याण करते हैं, इतने रोग विमुक्ति साधनों से सम्पन्न होकर भी वह क्षयरोग से ग्रस्त रहता है, उत्तरोत्तर एक-एक कला से क्षीण होता जाता है। अतः सिद्ध है कि भाग्यहीन लोगों के दुष्परिणाम का कोई उल्लंघन नहीं कर सकता।

विशेष – मालिनी नामक छन्द है।

प्रसंग—भाग्य ही मानव पर नियंत्रण रखता है, जैसा भी फल मनुष्य को भाग्यबल से मिलता है अच्छा या बुरा, वह मन से भी वैसा ही सोचता है, इसी बात का निर्देश करता हुआ कवि कहता है—

प्रियसख विपद्दण्डाघातप्रपातपरम्परा
परिचयबले चिन्ताचक्रे निधाय विधि खलः।
मृदमिव बलात् पिण्डीकृत्य प्रगल्भ कुलालव
द्भ्रमयति मनो नो जानीमः किमत्र विधास्यति ॥९०॥

अन्वय—हे प्रियसख ! खलः विधिः प्रगल्भकुलालवत्, मनः मृदम् इव बलात् पिण्डीकृत्य विपद्दण्डाघातप्रपातपरम्परापरिचयबले चिन्ताचक्रे निधाय भ्रमयति, अत्र किं विधास्यति इति नो जानीमः।

शब्दार्थ—प्रियसख=प्रियमित्र ! खलः विधिः=खल या शठ विधाता, प्रगल्भ कुलालवत्=प्रौढ कुम्भकार के समान, चित्तं मृदमिव=मेरे चित्त को मिट्टी के समान, बलात्=बल पूर्वक, पिण्डीकृत्य=कुचल कर दबाकर, विपद्-दण्डाघातप्रपातपरम्परापरिचयबले=विपत्ति रूप दण्डों के आघातों के लगने की परम्परा से परिचित शक्ति वाले. चिन्ताचक्र=चिन्ता रूपी चक्र पर निधाय =रखकर, भ्रमयति=घुमाता है, अत्र कि विधास्यति=इस भ्रमण में वह क्या करेगा, इति नो जानीमः=यह हम लोग नहीं जानते।

अनुवाद—प्रियमित्र ! शठ विधाता प्रौढ कुम्भकार के समान, मेरे चित्त को मिट्टी के समान, बलपूर्वक कुचलकर गोलाकर करके, विपत्ति रूप दण्डों के आघातों के लगने की परम्परा से परिचित शक्ति वाले चिन्ता रूपी चक्र पर रखकर घुमाता है, इस घुमाने में वह क्या करेगा यह हम नहीं जानते। अर्थात्

कुम्भकार तो मिट्टी को चक्र पर रखकर घुमाने के द्वारा घट बनाता है पर विधाता मेरे चित्त को चिंता चक्र पर घुमा कर क्या बनायेगा यह नहीं जाना जा सकता।

भावार्थ—विधाता की कुम्भकार से तुलना करता हुआ कवि कहता है कि कुम्भकार मिट्टी को कुचल कर पिण्डाकार बनाकर चक्र पर रखकर डण्डे से चक्र को घुमा कर घटादि पात्र बनाता है परन्तु ब्रह्मा मेरे चित्त को चिन्ता चक्र पर रखकर जो घुमाता है इससे वह क्या बनाना चाहता है, यह नहीं कहा जा सकता। वस्तुत: विधि की इच्छा को नहीं जाना जा सकता है, मनुष्य वह सोच भी नहीं सकता जो ब्रह्मा करना चाहता है।

विशेष—यह हरिणी नामक छन्द है।

प्रसंग—विपत्ति काल में भी सत्पुरुषों का धैर्य ध्वंस नहीं होता इसी बात का निर्देश करता हुआ कवि कहता है—

विरम विरमायासादस्माद् दुरध्यवसायतोः
विपदि महतां धैर्यध्वंसं यदीक्षितुमीहसे।
अयि जडविधे ! कल्पापायेऽप्यपेतनिजक्रमाः,
कुलशिखरिणः क्षुद्रा नैते न वा जलराशय ॥९१॥

अन्वय—अयि जडविधे ! अस्मात् दुरध्यवसायत: आयासात् यस्मात् (त्वम्) विपदि महताम् धैर्यध्वंसम् ईक्षितुम् ईहसे, विरम विरम, (यत:) कल्पापाये ऽपि अपेतनिजक्रमा: एते कुलशिखरिण: जलराशय: वा न क्षुद्रा: सन्ति।

शब्दार्थ—अयि जडविधे=हे मन्दवुद्धि विधाता ! अस्मात् दुरध्यवसायत: आयासात्=इस दुराग्रह रूप परिश्रम से, (यस्मात्) त्वम् आपदि महतं धैर्यध्वसं ईक्षितुम् ईहसे=जिससे कि तुम आपत्ति काल में महापुरुषों के धैर्य नाश को देखना चाहते हो, विरम विरम=चुप हो जाओ, रुक जाओ या शान्त रहो, ऐसा नहीं हो सकता। कल्पापायेऽपि=कल्पान्त में भी, अपेतनिजक्रमा:=अपनी मर्यादा को छोड़ने वाले एते कुलशिखरिण: जलराशय: वा=ये प्रसिद्ध कुल पर्वत अथवा समुद्र, क्षुद्रा न सन्ति=तुच्छ नहीं हैं।

अनुवाद—हे मन्द वुद्धि विधाता ! इस दुराग्रह रूप परिश्रम से, जिस से कि तुम विपत्ति काल में सत्पुरुषों के धैर्य नाश को देखना चाहते हो, रुक जाओ अर्थात् शान्त रहो, तुम्हारे इस प्रयास का कोई फल न होगा, महापुरुषों का

धैर्यनाश विपत्तिकाल में भी नहीं हो सकता। (इसी बात को दृष्टांत रूप में प्रस्तुत करता हुआ कवि कहता है कि) कल्पान्त में भी अपनी मर्यादा का त्याग करने वाले ये कुल पर्वत अथवा समुद्र क्षुद्र नहीं होते अर्थात् वे भी धैर्यावलम्बन कर आत्ममर्यादा की रक्षा करते है।

भावार्थ—विपत्तिकाल में भी महापुरुषों का धैर्यध्वंस नहीं होता कल्पांत में भी ये समुद्र और कुलपर्वत क्षुद्र नहीं होते, अपितु धैर्यावलम्बन के द्वारा अपनी मर्यादा की रक्षा ही करते हैं अतः धैर्यशालियों के धैर्यध्वंस के लिये ब्रह्मा का यत्न व्यर्थ ही है।

विशेष—छन्द पूर्ववत ही है।

प्रसंग—महान् आश्रय को प्राप्त करके भी प्राणी को उतना ही मिलता है जितना उसके भाग्य में होता है उससे अधिक कदापि नहीं, अतः अन्ततोगत्वा भाग्य ही बलवान् माना जाता है इसी भाव को बतलाता हुआ कवि कहता है :—

दैवेन प्रभुणा स्वयं जगति मद्यस्य प्रमाणीकृतम्,
तत्तस्योपनमेन्मनागपि महान्नैवाश्रयः कारणम्।
सर्वाशापरिपूरके जलधरे वर्षत्यपि प्रत्यहं,
सूक्ष्मा एव पतन्ति चातकमुखे द्वित्रापयोबिन्दव ॥९२॥

अन्वय—प्रभुणा दैवेन स्वयं जागति यत् यस्य प्रमाणीकृतम्, तत् तस्य उपनमेत्, महान् आश्रयः मनाक् अपि नैव कारणम्। सर्वाशापरिपूरके जलधरे प्रत्यहम् वर्षति अपि सूक्ष्माः द्वित्राः पयोविन्दवः एव चातकमुखे पतन्ति।

शब्दार्थ—प्रभुणा दैवेन=निग्रहानुग्रहसमर्थ विधि के द्वारा स्वयं=अपने आप, जगति=संसार में, यत् यस्य प्रमाणीकृतम्=जो जितनी वस्तु जिसके लिये निर्दिष्ट कर दी गई है। तत् तस्य उपनमेत्=वह उसे प्राप्त होगी, महान् आश्रयः=महापुरुष का उच्च आश्रय; मनाक् अपि न कारणम्=इस विषय में थोड़ा सा भी कारण नहीं है। सर्वाशापरिपूरके जलधरे प्रत्यहं वर्षति अपि=सकल लोक की आशा की पूर्ति करने वाले मेघ के प्रति दिन बरसने पर भी, सूक्ष्मा द्वित्राः पयोबिन्दवः एव=थोड़ेसे दो तीन जल बिन्दु ही, चातक मुखे पतन्ति=चातक पक्षी के मुख में गिरते हैं।

अनुवाद—निग्रहानुग्रहसमर्थ विधाता ने स्वयं संसार में जिसके लिये जो जितनी वस्तु निर्दिष्ट कर दी है, वह उतनी उसके पास पहुँचेगी, (उससे अधिक नहीं, इस सम्बन्ध में) महान् आश्रय थोड़ा सा ही कारण नहीं है। सबकी आशा को पूर्ण करने वाले मेघ के प्रतिदिन बरसने पर भी थोड़े से दो तीन जलबिन्दु ही चातक के मुख में गिरते हैं।

भावार्थ—विधाता ने जितनी वस्तु जिसके लिये निर्दिष्ट कर रखी है उतनी उसे अवश्य मिलनी है, न उससे कम न अधिक। इस वस्तु प्राप्ति में बड़े लोगों का आश्रय भी कुछ कारण नहीं बनता अर्थात् यह न सोचना चाहिये कि बड़े के आश्रय से अधिक वस्तु की प्राप्ति हो जायेगी अपितु आश्रय चाहे बड़ा हो या छोटा, वस्तु तो उतनी ही मिलेगी जितनी विधाता द्वारा पहिले से ही निर्दिष्ट कर दी गई है। इसी बात को दृष्टान्त द्वारा पुष्ट करता हुआ कवि कहता है कि सब की सब आशाओं का पूर्ण करने वाला मेघ चाहे रात-दिन बरसता रहे, पर चातक के मुख में तो दो तीन बूँद ही गिरेंगे। मेघ जैसे महान् आश्रय को प्राप्त करके भी चातक भाग्यवश दो-तीन बूंद ही प्राप्त कर पाता है अधिक नहीं। अतः सिद्ध है कि भाग्य ही सर्वोपरि होता है।

विशेष— शार्दूल विक्रीड़ित छन्द है।

(अथ कर्मपद्धतिः)

दैव भी कर्माधीन होता है, दैव कर्म से ही उत्पन्न होता है, अतः कर्म का ही प्राधान्य है, इस दृष्टि से दैवपद्धति के निरूपण के अनन्तर कवि यहाँ से कर्म पद्धति का निरूपण कर रहा है।

प्रसंग—कर्म प्राधान्य का निर्देश करता हुआ कवि कहता है—

नमस्यामो देवान्नु हतविधेस्तेऽपि वशगाः,
विधि र्वन्द्य सोऽपि प्रतिनियतकर्मैकफलदः।
फलं कर्मायत्तं यदि किमपरैं किं च विधिना,
नमस्तत्कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्य प्रभवित ॥९३॥

अन्वय—देवान् नमस्यामः, ननु ते अपि हतविधेः वशगाः, विधिः वन्द्यः सः अपि प्रतिनियतकर्मैकफलदः, फलम् कर्मायत्तम् यदि अपरैः किम् विधिना च किम्, तत्कर्मभ्यः नमः, येभ्यः विधिः अपि न प्रभवति।

शब्दार्थ—देवान् नमस्यामः=हम देवताओं को नमस्कार करते हैं, ननु तेऽपि हतविधेः वशगाः=किन्तु वे भी दुष्ट विधाता के वशवर्ती हैं, (तो फिर)

विधिः वन्द्यः=ब्रह्मा ही वन्दनीय है, सोऽपि प्रतिनियतकर्मैकफलदः=वह भी केवल निश्चित कर्मों के अनुसार फल देने वाला है, फलं कर्मायत्तम् यदि=फल कर्म के अधीन है यदि (तो) अपरैः किम् विधिना च किम्=अन्य देवों से क्या और ब्रह्मा से भी क्या प्रयोजन, तत्कर्मभ्यः नमः=उन कर्मों को ही नमस्कार है, येभ्यः विधिरपि न प्रभवति=जिन पर ब्रह्मा भी समर्थ नहीं होता अर्थात् ब्रह्मा का भी जिन पर कोई वश नहीं चलता ।

अनुवाद—हम देवताओं को नमस्कार करते हैं किन्तु वे भी दुष्ट विधाता के वशवर्ती हैं, तो फिर विधाता ही वन्दनीय है किन्तु वह भी केवल निश्चित ही कर्मानुसार फल देने वाला है (अर्थात् जिसके जैसे जितने कर्म हैं उन्हीं के अनुसार फल देने वाला है न अधिक न कम और न उन कर्मों से विपरीत ही) किन्तु यदि यह फल कर्माधीन है तो अन्य देवताओं से क्या और विधाता से भी क्या (प्रयोजन) उन कर्मों को ही नमस्कार है जिन पर विधाता का भी वश नहीं चलता ।

भावार्थ—वस्तुतः विधि की अपेक्षा कर्म का ही प्राधान्य है क्योंकि यह विधाता भी तो कर्मानुसार ही फल देता है अर्थात् सब कुछ कर्मों पर ही निर्भर है इस दृष्टि से कर्म ही वन्दनीय हैं न विधाता और न दूसरे देवता ही, क्योंकि कर्म गति को ब्रह्मा भी नहीं बदल सकता । मनुष्य को जो कुछ भी अच्छा या बुरा फल मिलता है वह उसके कर्मों के अनुसार ही होता है, ब्रह्मा या अन्य देवता इस कर्म फल को नहीं रोक सकते ।

विशेष—शिखरिणी नामक छन्द है ।

प्रसंग—कर्मप्राधान्य का निर्देश करता हुआ कवि कहता है—

ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो ब्रह्माण्डभाण्डोदरे,
विष्णु र्येन दशावतारगहने क्षिप्तो महासंकटे ।
रुद्रो येन कपालपाणिपुटके भिक्षाटनं सेवते,
सूर्यो भ्राम्यति नित्यमेव गगने तस्मै नमः कर्मणे ।।९४।।

अन्वय—येन ब्रह्मा कुलालवत् ब्रह्माण्ड भाण्डोदरे नियमितः, येन विष्णुः दशावतारगहने महासंकटे क्षिप्तः, येन रुद्रः कपालपाणिपुटके[1] भिक्षाटनं सेवते, सूर्यो नित्यमेव गगने भ्राम्यति, तस्मै कर्मणे नमः ।

---

१. कपाल पाणि पुटको भिक्षाटनं कारितः भी पाठान्तर है, अर्थ में कोई विशेष अन्तर नहीं है ।

शब्दार्थ—येन ब्रह्मा कुलालवत्, जिसने ब्रह्मा को कुम्भकार के समान, ब्रह्माण्ड भाण्डोदरे नियमितः=ब्रह्माण्ड (जगद्गोलक) रूपी कटाह (बर्तन) के अन्दर आवद्ध कर दिया है। अर्थात् जरायुज आदि नानाविध जीवों के निर्माण व्यापार के क्लेशों में डाल दिया है। येन विष्णुः=जिसने विष्णु को, महा संकटे दशावतारगहने क्षिप्रः=दानवसंहारादि अनेक कष्टदायक, मत्स्यादि दश अवतार रूप महावन में डाल दिया है। येन रुद्रः=जिसके द्वारा मृत्युञ्जय भी भगवान् शिव, कपाल पाणि पुटके भिक्षाटनं सेवते=नरकपाल रूप करतलस्थ पात्र में भिक्षाटन करते हैं अर्थात् भिक्षा मांग कर खाते हैं। (येनकर्मणा-जिस कर्म से नियमित) सूर्यो नित्यम् गगने भ्राम्यति=सूर्य नित्य ही आकाश में घूमता है, तस्मै कर्मणो नमः=उस कर्म को नमस्कार है।

अनुवाद—जिस कर्म ने कुम्भकार के समान ब्रह्मा को ब्रह्माण्ड रूप कटाह के भीतर नियन्त्रित कर रखा है अर्थात् जरायुजादि अनेकविध जीवों के निर्माण व्यापार के क्लेशों में बांध रखा है जिस कर्म के विष्णु को दानवसंहारादि कष्ट कारक मत्स्यादि दशावतारों के महावन में डाल दिया है अर्थात् कर्म ने ही विष्णु को दानवों के संहार करने के लिये मत्स्यादि दशावतार धारण करने के लिये विवश कर दिया है जिस कर्म (प्रभाव) से ही रुद्र नर-कपाल रूप करतलस्थ भिक्षा पात्र में भिक्षाटन करते है और (जिस कर्म से प्रभावित होकर) सूर्य नित्य ही आकाश में घूमता है, उस कर्म को नमस्कार है।

भावार्थ—वस्तुतः न केवल मानव ही अपितु ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि देवाधिपति भी कर्म के नियन्त्रण में रहते हैं। कर्म इन से भी जो चाहता है वह कराता है; इन्हें भी कर्माधीन होकर अनेक कष्ट दायक कार्यों को करना पड़ता है अतः कवि कर्म को ही नमस्कार करता है।

विशेष—शार्दूल विक्रीडित छन्द है।

प्रसंग—सत्कर्मों की उपयोगिता बतलाता हुआ कवि कहता है—

या साधूंश्च खलान् करोति विदुषो मूर्खान् हितान् द्वेषिणः,
प्रत्यक्षं कुरुते परोक्षममृतं हालाहलं तत्क्षणात्।
तामाराधय सत्क्रियां भगवतीं भोक्तुं फलं वाञ्छितं,
हे साधो! व्यसनै गुंणेषु विपुलेष्वास्थां वृथा मा कृथाः ॥९५॥

अन्वय—या (सत्क्रिया) खलान् साधून् करोति, मूर्खान् विदुषः, द्वेषिणः च हितान् (करोति) परोक्षम् (वस्तु) प्रत्यक्षं कुरुते, हालाहलं तत्क्षणात् अमृतं (कुरुते) (अतः) हे साधो ! वाञ्छितं फलं भोक्तुम् भगवतीं तां सत्क्रियाम् आराधय (किन्तु) व्यसनैः विपलेषु गुणेषु वृथा आस्थां मा कृथाः ।

शब्दार्थ—या=जो सत्क्रिया (अच्छे कर्म) खलान् साधून् करोति=दुष्टों को सज्जन बनाती है, मूर्खान् विदुषः=मूर्खों को विद्वान्, द्वेषिणः च हितान= और शत्रुओं को हितैषी (बनाती है), परोक्षं प्रत्यक्षं कुरुते=परोक्षवस्तु को प्रत्यक्षकर है, हालाहलं तत्क्षणात् अमृतं=हालाहल विष को तुरन्त ही अमृत (बना देती है) साधो ! हे सज्जनपुरुष ! वाञ्छितं फलं भोक्तुम्=अपने मनोऽभिलषितफल को भोगने के लिये, भगवती तां सत्क्रियाम् आराधय=उस प्रसिद्ध देवी सत्क्रिया की सेवा करो; व्यसनैः=दुःखों के कारण, विपुलेषु गुणेषु वृथा आस्थां मा कृथाः=बहुत से गुणों पर व्यर्थ में आस्था मत करो ।

अनुवाद—जो सत्क्रिया दुष्टों को सज्जन, मूर्खों को विद्वान्, शत्रुओं को हितैषी बनाती है तथा परोक्ष वस्तु को प्रत्यक्ष एव हालाहल विष को भी तुरंत अमृत बना देती है, हे सत्पुरुष मनोवाञ्छित फल भोगने के लिये उस प्रसिद्ध देवी सत्क्रिया की सेवा करो, दुःखों के कारण अन्य बहुत से गुणों पर वृथा आस्था मत करो ।

भावार्थ—सत्कर्म ही सब कुछ करने में समर्थ हैं, यही सत्कर्म मूर्खों को विद्वान्, शत्रुओं को हितकारक, दुष्टों को सज्जन, अप्रत्यक्ष वस्तु को प्रत्यक्ष एवं विष को भी अमृत बना देता है, दुःखों से बचने के लिये अन्य गुणों के आश्रय की अपेक्षा सत्कर्म पर ही आस्था रखनी चाहिए, इसी से सभी मनोवाञ्छित कार्य सिद्ध हो जाते हैं ।

प्रसंग—उक्त बात का ही निर्देश करता हुआ कवि कहता है—

शुभ्रं सद्म सविभ्रमा युवतय श्वेतातपत्रोज्ज्वला,
लक्ष्मीरित्यनुभूयते चिरमनुस्यूते शुभे कर्मणि ।
विच्छिन्ने नितरामनंगकलह क्रीणात्रुटत्तन्तुकं,
मुक्ताजालमिप प्रयाति झटिति भ्रश्यद् दिशो दृश्यताम् ॥९६॥

अन्वय—चिरम् अनुस्यूते शुभे कर्मणि(सति) शुभ्रं सद्म, सविभ्रमा युवतयः, श्वेतातपत्रोज्ज्वला लक्ष्मीः इति अनुभूयते, विच्छिन्ने नितराम् अनङ्गकलह-क्रीड़ात्रुटत्तन्तुकं मुक्ताजालम् इव भ्रश्यत् झटिति दिशः प्रयाति (इति) दृश्यताम् ।

शब्दार्थ—चिरम्=चिरकाल से लेकर, अनुस्यूते शुभे कर्मणि=शुभ कर्म के करते रहने पर, शुभ्रं सद्म=स्वच्छ सुन्दर प्रासाद, सविभ्रमा युवतयः=विलासवती युवतियाँ, (तथा) श्वेतातपत्रोज्ज्वला लक्ष्मीः=श्वेतच्छत्र से प्रकाशमान राजलक्ष्मी, इत्यनुभूयते=यह सब भोग किया जाता है । विच्छिन्ने=उस शुभ कर्म के नष्ट होने पर, नितराम् अनङ्गकलहक्रीड़ात्रुटत्तन्तुकम् मुक्ताजालमिव=अत्यधिक रतिरणकालीन क्रीड़ा के कारण टूटे हुये तन्तुसूत्र वाले मुक्ताहार के समान, भ्रश्यत्=बिखरता हुआ (वह सब सद्म आदि) दिशः प्रयाति=दिशाओं में फैल जाता है, दृश्यताम्=देखिये ।

अनुवाद—चिरकाल से लेकर शुभ कर्म करते रहने पर स्वच्छ प्रासाद, विलासवती युवतियाँ और श्वेतच्छत्र से प्रकाश माना राजलक्ष्मी, यह सब भोगे जाते हैं, परन्तु शुभ कर्म के नष्ट होने पर, अत्यधिक रतिरण कालीन क्रीड़ा के कारण टूटे हुए तन्तु नेत्रों वाले मुक्ताहार के समान बिखरता हुआ (वह सब सद्म आदि) दिशाओं में फैल जाता है, यह देखिये ।

भावार्थ—शुभ कर्म के फलस्वरूप ही मनुष्य को ऐहिक सभी सुख प्राप्त होते हैं पर जब शुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं तब वह सब वैभव टूटे हुए मुक्ताहार के समान इधर-उधर बिखर कर नष्ट हो जाते हैं । सत्कर्म का इतना प्रभाव है, अतः मनुष्य को सदा सत्कर्म ही करते रहना चाहिये । जहाँ सत्कर्मों से लाभ होता है, वहाँ उनके अभाव में अथवा दुष्कर्मों से हानि भी होती है अतः लाभ और हानि के कारण हमारे कर्म ही होते हैं ।

विशेष—उपमालंकार ।

प्रसंग—कर्मों के आचरण का प्रकार बतलाता हुआ कवि कहता है—

गुणवदगुणवद वा कुर्वता कार्यं जातं,[1]
परिणतिरवधार्या यत्नतः पण्डितेन ।

---

१. कार्य मादौ यह पाठान्तर है जिसका अर्थ है आदौ अर्थात् कार्य के आरम्भ करने के पूर्व ।

अतिरभसकृतानां कर्मणामाविपत्तेः
भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः ॥९७॥

अन्वय—गुणवद् अगुणवद् वा कार्यजातं कुर्वता पण्डितेन यत्नतः परिणतिः अवधार्या। अतिरभसकृतानां कर्मणां विपाकः आविपत्तेः शल्यतुल्यः हृदयदाही भवति।

शब्दार्थ—गुणवत्=गुणों से युक्त, अगुणवत्=गुण हीन, वा=अथवा, कार्य जातम्=कार्य समूह को, कुर्वता=करते हुए, पण्डितेन=बुद्धिमान् मनुष्य के द्वारा यत्नतः=प्रयत्न पूर्वक, परिणतिः अवधार्या=उस कार्य का परिणाम सोच लेना चाहिये, अतिरभसकृतानां कर्मणाम्=अतिशीघ्रता से किये गये कर्मों का, विपाकः=फल आविपत्तेः=मृत्यु तक, शल्यतुल्यः=वाण के अग्रभाग के समान, हृदयदाही=हृदय को जलाने वाला, भवति=होता है।

अनुवाद—गुणशाली अथवा गुणहीन अर्थात् अच्छे या बुरे कार्यसमूह को करते हुए बुद्धिमान् मनुष्य के द्वारा उस कार्य के परिणाम को यत्नपूर्वक समझ लेना चाहिए, क्योंकि अतिशीघ्रता से किये गये कर्मों का फल मृत्यु तक वाणाग्र भाग के समान हृदय को जलाने वाला होता है।

भावार्थ—प्रत्येक कार्य को करते उसके परिणाम को अवश्य सोच लेना चाहिए, यदि बिना सोचे समझे कार्य कर डाला जाता है तो उसका परिणाम मृत्यु तक दुःखदायी होता है और वह सदा हृदय को जलाया करता है। अतः सोच-समझ कर कार्य करना ही उचित होता है।

विशेष—मालिनी नामक छन्द है।

प्रसंग—इस कर्म भूमि में आकर सत्कर्मानुष्ठान ही मनुष्य का परमध्येय होना चाहिये, वह भाग्य हीन ही है जो ऐसा नहीं करता, इसी भाव को व्यक्त करता हुआ कवि कहता है:—

स्थाल्यां वैदूर्यमय्यां पचति तिलखलं[1] चान्दनैरिन्धनौघैः,
सौवर्णैर्लांगलाग्रैर्विलिखति वसुधामर्कतूलस्य हेतोः।

---

१. तिलखलं के स्थान पर लशुनं तथा अर्कतूलस्य के स्थान पर अर्कमूलस्य भी पाठान्तर है–अर्कमूलस्य का अर्थ है आक की जड़, लशुनं का अर्थ–लहसुन जो कि एक एक दुर्गन्धिमय वस्तु होती है।

छित्वा कर्पूरखण्डान् वृतिमिह कुरुते कोद्रवाणां समन्तात्,
प्राप्येमां कर्मभूमिं न भजति मनुजो यस्तपो मन्दभाग्यः ॥९८॥

अन्वय—यः मन्दभाग्यः मनुजः इमां कर्मभूमिं प्राप्य तपः न भजति, (सः) वैदूर्यमय्यां स्थाल्यां चान्दनैः इन्धनौघैः तिलखलम् पचति, सौवर्णैः लाङ्गलाग्रैः अर्कतूलस्य हेतोः वसुधाम् विलिखति, कर्पूरखण्डान् छित्वा कोद्रवाणां समन्तात् इह वृतिम् कुरुते ।

शब्दार्थ—यः मन्द भाग्यः मनुजः=जो भाग्यहीन मनुष्य, इमां कर्मभूमिं प्राप्य=इस कर्मभूमि में आकर, तपः न भजति=तपस्या नहीं करता, (सः= वह) वैदूर्यमय्यां स्थाल्यां=वैदूर्य मणि से बनी बटलोई में, चान्दनैः इन्धनौघैः =चन्दन के इन्धन समूह में, तिलखलं पचति=तिलों की पिट्ठी को पकाता है । सौवर्णैः लाङ्गलाग्रैः=सोने ने बने हलों के अग्रभागों अर्थात् फालों से । अर्कतूलस्य हेतोः=अर्क (आक) नामक पौधे के फलों से निकलने वाली रुई के लिये, वसुधां विलिखति=पृथिवी को जोतता है । कर्पूरखण्डान छित्वा= कर्पूर कदली के काण्डों को काट कर, कोद्रवाणां समन्तात्=कोदों (जैसे तुच्छ धान्यों) के चारों ओर, इह वृतिं कुरुते=इस संसार में घेरा बनाता है ।

अनुवाद—जो मन्द भाग्य मनुष्य इस कर्मभूमि में आकर तपस्या नहीं करता वह (मानो) वैदूर्य मणि की बटलोई में चन्दन के इन्धन समूह से तिलों की पिट्ठी को पकाता है स्वर्ण से बने हलों के फालों से आक की रुई के लिये पृथिवी को जोतता है और कर्पूरकदली स्तम्भों को काट कर कोदों जैसे तुच्छ धान्यों की रक्षा के लिये) चारों ओर घेरा बनाता है ।

भावार्थ—इस कर्मभूमि में आकर मनुष्य का परम लक्ष्य तप करना ही होना चाहिये, पर जो ऐसा नहीं करता वह मन्दभाग्य ही है और वह वैसा ही मूढ़ और नासमझ है, जैसा कि वह मनुष्य जो कि वैदूर्यमयी स्थाली में तिल खल पकाता है, स्वर्णमय हलों के फालों से केवल अर्कतूल की प्राप्ति के लिये पृथ्वी को खोदता है तथा कर्पूरकदली स्तम्भों से कोंदों की रक्षा के लिये घेरा बनाता है । अतः तप को ही मानव जीवन का लक्ष्य समझना चाहिये ।

विशेष—स्रग्धरा नामक छन्द है ।

प्रसंग—पुरा कृत सुकृत ही परमफलदायक होता है, सुकृत ही मनुष्य को समय पर लाभ पहुँचाता है, इसी बात का निर्देश करता हुआ कवि कहता है:—

नैवाकृतिः फलति नैव कुलं न शीलं,
विद्यापि नैव न च यत्नकृतापि सेवा ।
भाग्यानि पूर्वतपसा खलु संचितानि
काले फलन्ति पुरुषस्य यथैव वृक्षाः ॥९९॥

अन्वय—आकृतिः न एव फलति, न एव कुलं न शीलम्, विद्यापि नैव न च यत्नकृता सेवा असि (फलति) पुरुषस्य पूर्वतपसा सञ्चितानि भाग्यानि खलु (तथैव) काले फलन्ति यथैव वृक्षाः ।

शब्दार्थ—नैवाकृतिः फलति=न तो आकृति (सुन्दर स्वरूप) ही फलदायक है, नैव कुलं न शीलम्=और न (उच्च) कुल और न सत्स्वभाव ही, विद्यापिनैव=न विद्या ही (फलती है) और न यत्नपूर्वक की गई सेवा ही, किन्तु, पुरुषस्य पूर्वतपसा सञ्चितानि भाग्यानि=पुरुष के पूर्वजन्म के तप से सञ्चितभाग्य ही, काले फलन्ति यथैव वृक्षाः=समय पर उसी प्रकार फलते है जैसे वृक्ष ।

अनुवाद—न तो सुन्दर आकृति ही फलती है और न कुल और न सत्स्वभाव ही, विद्या भी नहीं फलती और न यत्नपूर्वक की गई सेवा ही फलती है, किन्तु पुरुष के पूर्वजन्म के तप से सञ्चित भाग्य ही उसी प्रकार समय पर फलते हैं जिस प्रकार वृक्ष समय पर फल देते हैं ।

भावार्थ—वस्तुतः पूर्व जन्म कृत पुण्य ही समय समय पर मनुष्य को शुभ फल देने वाले होते हैं, उसकी विद्या, सेवा, आकृति, कुल, शील आदि नहीं अतः तपसञ्चय के लिये ही यत्न करना चाहिये ।

विशेष—वसन्ततिलका छन्द है ।

प्रसंग—मनुष्य चाहे जितना प्रयत्न करले पर होगा वही जो कर्मवश भाग्य द्वारा निर्दिष्ट है अतः कर्मों का ही प्रधान्य है, इसी वात का निर्देश करता हुआ कवि कहता है :—

मज्जत्वम्भसि यातु मेरुशिखरं शत्रून्जयत्वाहवे,
वाणिज्यं कृषिसेवने च सकला विद्याः कलाः शिक्षतु ।
आकाशं विपुलं प्रयातु खगवत् कृत्वा प्रयत्नं परं,
नाभाव्यं भवतीह कर्मवशतो भाव्यस्य नाशः कुतः ॥१००॥

अन्वय—(पुरुषः) अम्भसि मज्जतु मेरुशिखरं यातु, आहवे शत्रून् जयतु, वाणिज्यं कृषि सेवन च शिक्षतु, सकलाः विद्याः कलाः च शिक्षतु, परं प्रयत्नं

कृत्वा खगवत् विपुलं आकाशं प्रयातु (किन्तु) इह कर्मवशतः अभाव्यं न भवति, भाव्यस्य कुतः नाशः।

शब्दार्थ—अम्भसि मज्जतु=(मनुष्य चाहे) जल स्तम्भादि विधि से जल में निमग्न हो जाय, मेरुशिखरं यातु=मेरु पर्वत के शिखर पर चला जाय, आहवे शत्रून् जयतु=संग्राम में शत्रुओं को जीत ले, वाणिज्यं कृषिसेवने च शिक्षतु=वाणिज्य-व्यापार, कृषि और सेवावृति को सीख ले, सकलाः विद्याः कलाः=सभी विद्याओं और कलाओं का अभ्यास कर ले, परं प्रयत्नं कृत्वा खगवत् विपुलं आकाशं प्रयातु=बड़ा प्रयत्न करके पक्षी की भाँति चाहे विस्तृत आकाश पर दौड़ने लगे, इह अभाव्यं न भवति=इस संसार में जो होनहार नहीं है वह नहीं होता है, कर्मवशतः भाव्यस्य नाशः कुतः=और कर्मवश होनहार का नाश कहाँ से हो सकता है।

अनुवाद—पुरुष चाहे जल में निमग्न हो जाये, चाहे मेरुशिखर पर चला जाय, चाहे संग्राम में शत्रुओं को जीत ले, चाहे व्यापार, कृषि, सेवा वृत्ति, सकल विद्यायें और कलायें भी सीख ले और चाहे बड़ा प्रयत्न करके पक्षी की भाँति अनन्त आकाश में विचरण करने लगे, परन्तु कर्मवश न होने वाली बातें इस संसार में नहीं होतीं और जो अवश्यम्भावी है उसका कभी नाश न होना अर्थात् वह अवश्य होगा।

भावार्थ—मनुष्य अपने प्रयत्न से चाहे जैसा कठिन से कठिन यहाँ तक कि असम्भव भी कार्य कर ले, सभी विद्याओं और कलाओं में निपुण हो जाय, शत्रुओं को पराजित कर ले पर अवश्यम्भावी बात कभी टल नहीं सकती। कर्म गति के अनुसार होगा वही जो अवश्यम्भावी है। भाग्य के सामने मनुष्य का सारा प्रयास व्यर्थ है, यह भाग्य कर्म से बनता है, कर्मों का फल अवश्य मिलता है अतः सत्कर्म में ही मनुष्य की प्रवृत्ति होनी चाहिये।

प्रसंग—यदि मनुष्य के पूर्वसञ्चित पुण्य होते हैं तो वह संकट में पड़ कर भी सुरक्षित रहता है, उसकी कोई हानि नहीं होती, इसी बात को बतलाता हुआ कवि कहता है—

वने रणे शत्रुजलाग्निमध्ये,
महार्णवे पर्वतमस्तके वा।
सुप्तं प्रमत्तं विषयस्थितं वा।
रक्षन्ति पुण्यानि पुराकृतानि ॥१०॥

अन्वय—पुराकृतानि पुण्यानि वने रणे शत्रुजलाग्निमध्ये महार्णवे पर्वत-मस्तके वा सुप्तं प्रमत्तं विषमस्थितं वा पुरुषं रक्षन्ति।

शब्दार्थ—पुराकृतानि पुण्यानि=पूर्व जन्म में किये गये पुण्य, वने=वन में, रणे=संग्राम में, शत्रुजलाग्नि मध्ये=शत्रुओं, जल, और अग्नि के बीच में, महार्णवे=महासागर में, पर्वतमस्तके वा=अथवा पर्वत की चोटी पर, सुप्तम्=सोये हुये, प्रमत्तम्=जाग्रत अवस्था में भी असावधान, तथा विषमस्थितं वा पुरुषम्=और विषम अर्थात् संकटावस्था में स्थित भी पुरुष की, रक्षन्ति=रक्षा करते हैं।

अनुवाद—पूर्व जन्म में किये गये पुण्य, वन में, संग्राम में, शत्रुओं, जल, एवं अग्नि के बीच, महासागर अथवा पर्वत की चोटी पर सोये हुये अथवा जाग्रतावस्था में भी असावधान एवं संकट ग्रस्त पुरुष की रक्षा करते हैं।

भावार्थ—वस्तुतः पूर्वकृत पुण्य का आशातीत प्रभाव होता है। पूर्व जन्म-कृत पुण्य मनुष्य की सर्वत्र रक्षा करते हैं। चाहे वह जंगल में रहे संग्रामभूमि में हो, शत्रुओं के बीच फँस गया हो, जल में डूब गया हो या अग्नि के बीच पड़ गया हो, चाहे वह महासागर में अथवा पर्वत की चोटी पर ही क्यों न हो, चाहे वह स्वप्नावस्था में हो अथवा जाग्रतावस्था में हो अथवा संकट ग्रस्त हो पर उसके पुण्य उसकी सर्वत्र रक्षा करते ही हैं।

विशेष—उपजाति छन्द है।

प्रसंग—पुण्यात्मा के लिये सब कुछ अनुकूल ही होता है, वह कहीं भी किसी भी स्थिति में क्यों न रहे, इसी बात का निर्देश करता हुआ कवि कहता है—

भीमं वनं भवति तस्य पुरं प्रधानं
सर्वो जनः स्वजनतामुपयाति तस्य।
कृत्स्ना च भू र्भवति सन्निधिरत्नपूर्णा
यस्याति पूर्वसुकृतं विपुलं नरस्य ॥१०२॥

अन्वय—यस्य नरस्य विपुलं पूर्वसुकृतम् अस्ति तस्य भीमं वनं प्रधानं पुरं भवति, सर्वः जनः तस्य स्वजनताम् उपयाति, कृत्स्ना भूः सन्निधिरत्नपूर्णा च भवति।

शब्दार्थ—यस्य नरस्य=जिस मनुष्य का, विपुलं पूर्वसुकृतं भवति=बहुत अधिक पूर्वजन्मकृत पुण्य होता है, तस्य भीमं वनं प्रधानं पुरं भवति=उसके लिये भयानक जंगल (भी) प्रधान नगर बन जाता है, सर्वः जनः तस्य स्वजनताम् उपयाति=सभी लोग उसके अपने अर्थात् विधेय-सहायक बन जाते हैं। कृत्स्ना भूः सन्निधिरत्नपूर्णं च भवति=और सम्पूर्ण पृथिवी अच्छे निधि तथा रत्नादि श्रेष्ठ वस्तुओं से परिपूर्ण हो जाती है।

अनुवाद—जिस मनुष्य का बहुत अधिक पूर्वजन्मकृत पुण्य होता है, उसके लिये भयानक जंगल भी प्रधान नगर बन जाता है, सभी लोग उसकी विधेयता को प्राप्त हो जाते है अर्थात् उसके परम सहायक बन जाते हैं। सम्पूर्ण पृथिवी उसके लिये विशाल निधि एवं रत्नों से परिपूर्ण हो जाती है।

भावार्थ—वस्तुतः पुण्यात्मा के लिये किसी भी वस्तु का अभाव नहीं रहता जो पापियों या भाग्यहीनों के लिये भयानक जंगल होता है वही पुण्यात्मा के लिये प्रधान नगर के समान सुखदायक हो जाता है, ऐसे मनुष्य के सभी सहायक होते हैं और यह रत्नगर्भा वसुन्धरा उसके लिये सभी ऐश्वर्य एवं धनधान्यादि से परिपूर्ण हो जाती है।

विशेष—वसन्ततिलका छन्द है।

परिशिष्ट

यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता,
साऽप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः।
अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या,
धिक् तां च तं च मदनं च इमां च माम् च ॥१॥

अन्वय—(अहम्), याम् (स्त्रियम्) सततं चिन्तयामि, सा मयि विरक्ता (अस्ति) सा अपि अन्यम् (जनम्) इच्छति, स जनः अन्यसक्तः (अस्ति) काचित् अन्या च अस्मत् कृते परितुष्यति (अतः) तां च तं च मदनं च इमाम् च मां च धिक्।

अर्थ—मैं जिस स्त्री का निरन्तर चिन्तन करता हूँ, अर्थात् जिससे मैं अनन्य भाव से प्रेम करता हूँ, वह स्त्री मुझ पर विरक्त है अर्थात् वह मुझसे अनुराग नहीं रखती है अपितु उदासीन है, (परन्तु) वह स्त्री भी अन्य पुरुष को चाहती है, पर वह पुरुष अन्य नायिका पर आसक्त है, कोई अन्य स्त्री मेरे लिए अनुराग रखती है। अतः उस स्त्री को उस मनुष्य को, कामदेव को, इस स्त्री को, और मुझको भी धिक्कार है।

भावार्थ—जबकि कोई किसी पर सच्चा अनुराग नहीं रखता तो ये सब धिक्कार के पात्र हैं, और साथ ही इस लौकिक इन्द्रियज प्रेम के कारण भूत कामदेव को भी धिक्कार है और इस प्रकार स्त्री जाल में फँसने के कारण मुझे भी धिक्कार है।

जब महाराज भर्तृहरि को स्त्री प्रतारणा से वैराग्य उत्पन्न हो जाता है और वे राज्य छोड़कर वन को प्रस्थान करने लगते हैं तब वे इस श्लोक को कहकर पूर्व स्थिति पर पश्चात्ताप प्रकट करते हैं।

कहीं पर "शुष्यति" पाठ है जिसका अर्थ है—कोई मेरे लिए व्याकुल होती है वसन्ततिलका छन्द है।

साहित्यसंगीतकलाविहीनः साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः
तृणं न खादन्नपि जीवमानः, तद् भागधेयं परमं पशूनाम् ॥२॥

अन्वय—साहित्य संगीत कला विहीनः (नरः) पुच्छविषाणहीनः साक्षात् पशुः (अस्ति) (यत्) (सः) तृणं न खादन् अपिजीवमानः, (वर्तते) तत् पशूनाम् परमं भागधेयम् (अस्ति)।

अर्थ—साहित्य संगीत और कला से रहित (मनुष्य) पूँछ और सींग से रहित साक्षात् पशु ही है। (जो कि) वह तिनके घासादि न खाता हुआ भी जीवित रहता है। यह पशुओं का परम सौभाग्य है।

भावार्थ—मनुष्य और पशु में बुद्धि वैभव का ही अन्तर है। बुद्धि-वैभव सम्पन्न मनुष्य साहित्य संगीत कलादि का ज्ञाता होता है पर बुद्धि वैभव से रहित पशु इन सबसे रहित होता है, अतः मनुष्य और पशु का परम भेदक तत्व साहित्यादि का परिज्ञान ही है, पर जो मानव होकर भी संगीत और कलादि का ज्ञान नहीं रखता अर्थात् इनके परमस्वाद से वंचित है उसे मनुष्य नहीं अपितु निरा पशु ही समझना चाहिये। पर साधारण पशु और इस नरपशु में अन्तर इतना ही है कि नरपशु के पूँछ और सींग नहीं होते साथ ही यह घास न खाता हुआ भी जो जीवित रहता है तो इसे पशुओं का परम सौभाग्य समझना चाहिए। अगर यह नरपशु कहीं घास भी खाने लगता तो बेचारे पशु भूखों मर जाते। तात्पर्य यह कि साहित्यादि के ज्ञान से रहित पुरुष पशु ही होता है, अतः मनुष्य पशु न बन जाय, इसलिए उसे साहित्यादि का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। उपजाति नामक छन्द है।

येषां न विद्या न तपो न दानं,
ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मर्त्यलोके भुवि भारभूताः
मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति ॥३॥

अन्वय—येषाम् न विद्या, न तपः न दानम् न ज्ञानम्, न शीलम्, न गुणः, न धर्मः (अस्ति) ते मर्त्यलोके भुवि भारभूताः (सन्तः) मनुष्यरूपेण मृगाः चरन्ति।

अर्थ—जिन मनुष्यों के (पास) न विद्या (है) न तप, न दान न ज्ञान, न शील, न गुण और न धर्म है, ऐसे मनुष्य इस मर्त्यलोक में पृथ्वी पर भार रूप होकर मनुष्य के रूप में पशु (वत्) घूमते हैं।

भावार्थ—विद्या आदि से रहित मनुष्य वस्तुतः मनुष्य नहीं अपितु पशु ही है और वह पृथ्वी पर भारस्वरूप है, यद्यपि वह मनुष्य रूप धारी है तथापि

उसका आचरण पशु तुल्य होने से वह पशु ही कहा जायेगा । अतः मनुष्य को मनुष्य कोटि में रहने के लिए विद्या आदि का अर्जन करना चाहिये । उपजाति छन्द है ।

वरं पर्वतदुर्गेषु भ्रान्तं वनचरैः सह ।
न मूर्खजनसम्पर्कः, सुरेन्द्रभवनेष्वपि ॥४॥

अन्वय—वनचरैः सह पर्वतदुर्गेषु भ्रान्तम् वरम् (अस्ति) मूर्खजनसम्पर्कः सुरेन्द्रभवनेषु अपि न (वरम्) ।

अर्थ—वनचरों के साथ पर्वतों के दुर्गम स्थानों पर घूमना अच्छा है परन्तु मूर्ख जनों का सम्पर्क इन्द्र भवनों में भी अच्छा नहीं है ।

भावार्थ—मनुष्य के विनाश का एकमात्र कारण मूर्ख जनों का संसर्ग ही होता है, दुःसंगति का प्रभाव मनुष्य पर अवश्य पड़ता है, अतः मूर्खजनों के सम्पर्क की अपेक्षा दूर पहाड़ों पर दुर्गम स्थलों पर घूमते रहना कहीं अच्छा होता है, परन्तु इन्द्रलोक में पहुँच कर मूढ़जनों का सम्पर्क अच्छा नहीं होता । अनुष्टुप् छन्द है ।

सूनुः सच्चरितः सती प्रियतमा स्वामी प्रसादोन्मुखः,
स्निग्धं मित्रमवञ्चकः परिजनः निःक्लेशलेशं मनः ।
आकारो रुचिरः स्थिरश्च विभवो विद्यावदातं मुखं,
तुष्टे विष्टपहारिणीष्टदहरौ संप्राप्यते देहिना ॥५॥

अन्वय—विष्टपहारिणि इष्टदहरौ तुष्टे (सति) देहिना सच्चरितः सूनुः, सती प्रियतमा, प्रसादोन्मुखः स्वामी, स्निग्धं मित्रम्, अवञ्चकः परिजनः, निःक्लेशलेशं मनः, रुचिरः आकारः, स्थिरः विभवः, विद्यावदातं मुखम् च, सम्प्राप्यते ।

अर्थ—संसार को प्रसन्न करने वाले, इष्ट वस्तु को देने वाले भगवान् विष्णु के प्रसन्न होने पर, देहधारी मानव के द्वारा, चरित्र शाली पुत्र, सती पत्नी, अनुग्रह के लिये उन्मुख स्वामी, स्नेही मित्र, छल कपट रहित बन्धुजन, क्लेश के लेश मात्र से भी रहित मन, सुन्दर आकृति, चिर स्थायी धन सम्पत्ति और विद्या से उज्जवल मुख, प्राप्त किया जाता है ।

भावार्थ—भगवान्, जो कि सभी पर कृपा करने वाले एवं सबको मनोवाञ्छित वस्तु देने वाले हैं, जब प्रसन्न होते हैं, तभी मनुष्य को उक्त प्रकार के पुत्रादि की प्राप्ति होती है, अन्यथा नहीं, अतः इनकी प्राप्ति के लिये मनुष्य को भगवत्कृपा प्राप्त करनी चाहिये । शार्दूल विक्रीड़ित छन्द है ।

तानीन्द्रियाण्यविकलानि तदेव कर्म
वा बुद्धिरप्रतिहता वचनं तदेव।
अर्थोष्मणा विरहितः पुरुषः स एव,
त्वन्यः क्षणेन भवतीति विचित्रमेतत् ॥६॥

अन्वय—तानि अविकलानि इन्द्रियाणि, तद् एव कर्म, सा अप्रतिहता बुद्धिः, तद् एव वचनम्, अर्थोष्मणा विरहितः स एव पुरुषः तु क्षणेन अन्यः भवति इति एतद् विचित्रम्।

अर्थ—वे ही अविकल अर्थात् सम्पूर्ण इन्द्रियाँ (हैं) वही कर्म है, वही कुण्ठित न होने वाली बुद्धि है, वही वचन (है), किन्तु धन की गर्मी से रहित वही पुरुष क्षण मात्र में ही दूसरा सा हो जाता है अर्थात् वह अपनी पूर्व स्थिति से बिल्कुल बदलकर एक दूसरा ही मनुष्य जान पड़ने लगता है, यह विचित्र ही बात है।

भावार्थ—धनवान् और निर्धन के मानवीय शरीर में तो कोई अन्तर नहीं होता है, पर व्यवहार में और ऊपरी दृष्टि से देखने में अन्तर अवश्य प्रतीत होने लगता है। धनवान् मनुष्य के इन्द्रियगण बुद्धि, कर्म, आदि जैसे होते हैं भले ही वैसे ही निर्धन के भी क्यों न हों, पर उनमें अन्तर अवश्य हो जायेगा। धन की स्थिति में मनुष्य जैसा रहता है और व्यवहार करता है वैसा ही वह निर्धन होकर नहीं कर सकता अतएव कहा गया है कि इन्द्रियादि के वैसे ही बने रहने पर भी धन रहित मनुष्य बदल सा जाता है, और उसका यह परिवर्तन अतिशीघ्र ही जाता है, यद्यपि यह बात विचित्र सी प्रतीत होती है, पर ऐसा होता अवश्य है। वसन्ततिलका छन्द है।

त्वमेव चातकाधारोऽसीति केषां न गोचरः।
किमम्भोदवरास्माकं कार्पण्योक्ति प्रतीक्षसे ॥७॥

अन्वय—हे अम्भोदवर ! त्वम् एव चातकाधारः असि इति केषां न गोचरः अस्माकम् कार्पण्योक्तिं किम् प्रतीक्षसे।

अर्थ—हे श्रेष्ठ मेघ ! तुम ही चातकों के आधार हो, यह बात किन लोगों को विदित नहीं है, अर्थात् सभी लोग यह जानते हैं कि चातकों का आधार केवल मेघ ही होता है तो फिर तुम हमारे दीन वचनों की क्यों प्रतीक्षा कर रहे हो।

भावार्थ—जबकि सभी लोग जानते हैं कि चातकों का एक मात्र प्राणाधार मेघ ही होता है, तब तो तुम को हमारे दीन वचनों की प्रतीक्षा किये बिना ही हमें जलबिन्दु दे देना चाहिये, हमारे तीन वचनों को सुनकर यदि दिया तो क्या दिया, ऐसा दान व्यर्थ होता है। तात्पर्य यह कि दाता को याचकों के दीन वचनों की प्रतीक्षा किये बिना ही दान देना चाहिये। अनुष्टप् छन्द है।

रे रे चातक सावधानमनसा मित्र क्षणं श्रूयताम्,
अम्भोदा बहवो वसन्ति गगने सर्वेऽपि नैतादृशाः।
केचिद् वृष्टिभिरार्द्रयन्ति वसुधां गर्जन्ति केचिद् वृथा,
यं यं पश्यसि तस्य तस्य पुरतो मा ब्रूहि दीनं वचः ॥८॥

अन्वय—रे रे मित्र चातक ! सावधानमनसा क्षणं श्रूयताम्, गगने बहवः अम्भोदाः वसन्ति सर्वे अपि एतादृशा न, केचिद् वृष्टिभिः वसुधान् आर्द्रयन्ति केचिद् वृथा गर्जन्ति, (अतः) यं यं पश्यसि तस्य तस्य पुरतः दीनं वचः मा ब्रूहि।

अर्थ—हे मित्र चातक ! सावधान मन से क्षण भर (मेरी बात) सुनिये, आकाश में बहुत से मेघ रहते हैं, पर सभी ऐसे (उदार) नहीं होते, (उन में से) कुछ तो वर्षा से पृथिवी को गीला कर देते हैं, पर कुछ व्यर्थ ही गरजते हैं। अतः तुम जिस जिस को देखते हो, उस उस के सामने दीन वचन मत बोलो।

भावार्थ—उदार दाता के सामने दीन वचन कहने से तो इष्टपूर्ति हो सकती है, पर कंजूस के सामने हाथ फैलाने से तो कोई लाभ न होगा। यद्यपि आकृति से दाता व कृपण समान ही होते हैं, पर याचकों की इष्ट प्राप्ति उदारदाता से ही हो सकती है। आकाश में मेघ सभी बरसने वाले नहीं होते, संसार के सभी लोग उदार नहीं होते, अतः सब से ही याचना न करनी चाहिये, उदार से ही मांगना चाहिये। शार्दूल विक्रीड़ित छन्द है।

एको देवः केशवो वा शिवो वा,
एकं मित्रं भूपति र्वा यति र्वा।
एको वासः पत्तने वा वने वा,
एका नारी सुन्दरी वा दरी वा ॥९॥

अन्वय—एकः देवः केशवः वा शिवः वा, एकं मित्रम् भूपति वा यतिः वा, एकःवास पत्तने वा वने वा, एका नारी सुन्दरी वा दरी वा।

अर्थ—एक (ही) देव (होना) चाहिये, फिर चाहे वह, विष्णु (हों) चाहे सिव (हों) एक (ही) मित्र (होना चाहिये फिर चाहे वह) राजा (हो) या योगी हो। एक (ही) निवास स्थान (होना चाहिये फिर चाहे वह) नगर में हो अथवा वन में, एक ही पत्नी (होनी चाहिये फिर चाहे वह) सुन्दरी (हो चाहे) कुरूप हो।

भावार्थ—मनुष्य को अपने व्यवहार में एक चित्त होना चाहिये अस्थिर चित्त नहीं, जिस किसी व्यक्ति या वस्तु को एक बार अपना बना लिया जाय, उस पर सदा एक सा व्यवहार रहना चाहिये, भले ही वह व्यक्ति या वस्तु अच्छी हो या बुरी। कहीं कहीं 'हयेकम्' और 'हयेका' भी पाठान्तर है, पर अर्थ में विशेष अन्तर नहीं है।

किं तेन हेमगिरिणा रजताद्रिणा वा,
यत्राश्रिता हि तरवस्तरवस्त एव।
मन्यामहे मलयमेव यदाश्रयेणः
कङ्कोलनिम्बकुटजा अपि चन्दनाः स्युः ॥१०॥

अन्वय - तेन हेमगिरिणा रजताद्रिणा वा किम्, यत्र आश्रिताः हि तरवः ते एव तरवः, मलयम् एव मन्यामहे यद् आश्रयेण कङ्कोलनिम्बकुटजाः अपि चन्दनाः स्युः।

अर्थ—उस स्वर्ण पर्वत (सुमेरु) से अथवा चाँदी के पर्वत (कैलाश) से क्या (लाभ) जिस पर आश्रित अर्थात् उगे हुये वृक्ष वे ही वृक्ष बने रहते हैं (हम लोग तो) मलय पर्वत को ही (श्रेष्ठ पर्वत) मानते है, जिसके आश्रय से काङ्कोल (शीतल चीनी के वृक्ष) नीम और कुटज (कुरैया) के वृक्ष भी चन्दन हो जाते हैं।

भावार्थ—सुमेरु एवं कैलास पर्वत भले ही स्वर्ण और रजत के पर्वत कहलाते हों पर इनसे दूसरों को कोई लाभ नहीं होता, इन पर्वतों पर जो भी वृक्ष होते हैं अच्छे या कटीले कड़वे, वे सदा वैसे ही बने रहते है अर्थात् स्वर्ण और रजत पर्वत पर उगने से इन्हें कोई लाभ नहीं होता, मलय पर्वत ही वस्तुतः सबसे श्रेष्ठ पर्वत है क्योंकि इस पर उगने वाले कंकोल नीम कुटज जैसे तुच्छ वृक्ष भी चन्दन जैसी सुगन्धि वाले और शीतल हो जाते हैं। मलय पर्वत पर चन्दन वृक्ष अधिक होते हैं अतः इनके संसर्ग से अन्य वृक्ष भी सुगन्धित हो जाते हैं। इससे कवि का तात्पर्य यह है कि जिससे अपने को कोई

लाभ न हो भले ही वह धनवान् या गुणवान् बना रहे, उसके आश्रय में रहना व्यर्थ है, छोटा,अल्पगुणी भी व्यक्ति यदि वह उदार और उपकारी है तो उसके ही आश्रय में रहना उचित है। वसन्ततिलका छन्द है।

पातितोऽपि कराघातै रुत्पतत्येव कन्दुकः।
प्रायेण साधुवृत्ताना मस्थायिन्यो विपत्तयः ॥११॥

अन्वय—कराघातैः पातितः अपि कन्दुकः उत्पतति एव, प्रायेण साधु वृत्तानाम विपत्तयः अस्थायिन्यः (भवन्ति)।

अर्थ—हाथ की चोटो से नीचे गिराया गया भी गेंद ऊपर उछलता ही है अर्थात् यद्यपि वह कराघात से नीचे जाता है, तथापि फिर ऊपर उछलता है। प्रायः सच्चरित्र पुरुषों की विपत्तियाँ अस्थायिनी होती हैं, अर्थात् यद्यपि सज्जनों पर कभी-कभी आपत्तियाँ आती भी हैं पर वे सदा नहीं रहतीं कुछ समय बाद वे दूर हो जाती हैं ठीक उसी प्रकार जैसे नीचे गिर कर भी गेंद तुरन्त ऊपर उछल जाती है। सज्जनों की विपत्तियाँ भी ठीक इसी प्रकार आकर तुरन्त नष्ट हो जाती है और सज्जन सुखी हो जाते है। अनुष्टुप् छन्द है।

आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपुः॥
नास्त्युद्यमसमो बन्धुः यं कृत्वा नावसीदति ॥१२॥

अन्वय—आलस्यं हि मनुष्याणाम् शरीरस्थः महान् रिपुः (भवति) उद्यम-समः वन्धुः नास्ति, यं कृत्वा (जनः) न अवसीदति।

अर्थ—आलस्य निश्चयतः मनुष्यों के शरीर में रहने वाला एक महान् शत्रु (होता है) उद्यम के समान (दूसरा) वन्धु नहीं (है) जिस उद्यम को करके (मनुष्य) दुःखी नहीं होता है।

भावार्थ—मनुष्यों में रहने वाला आलस्य महान् शत्रु होता है, सामने प्रत्यक्ष होने वाला ही शत्रु जब कि दुर्जेय होता है तब अन्तः शरीर में रहने वाला आलस्य रूप शत्रु तो और भी भयानक होता है। उद्योग के समान दूसरा कोई वन्धु नहीं होता, क्योंकि उद्योगी मनुष्य कभी दुःख नहीं पाता, सदा सुखी रहता है। अतः हमें आलस्य त्याग कर उद्योगी बनना चाहिये। अनुष्टुप् छन्द है।

कर्मायत्तं फलं पुंसां बुद्धिः कर्मानुसारिणी।
तथापि सुधिया भाव्यं सुविचार्यैव कुर्वता ॥१३॥

अन्वय—पुंसाम् फलम् कर्मायत्तम् बुद्धिः कर्मानुसारिणी, तथापि सुविधा सुविचार्य एव कुर्वता भाव्यम् ।

अर्थ—मनुष्यों को (मिलने वाला) फल (उनके) कर्म (भाग्य) के अधीन (होता है) अर्थात् जैसा उन्होंने कर्म किया है वैसा ही उन्हें फल मिलेगा। बुद्धि (भी) कर्मानुसारिणी अर्थात् उनके कृत कर्मों के अनुसार चलने वाली होती है। (तात्पर्य यह कि मनुष्य के भाग्य में जो कुछ होना होगा उसी के अनुसार उसकी बुद्धि भी काम करेगी।) फिर भी सुबुद्धिमान् मनुष्य को अच्छी तरह सोच समझकर ही कर्म करना चाहिये।

शब्दार्थ—यद्यपि फल कर्माधीन होता है और बुद्धि भी भाग्यानुगामिनी ही होती है तथापि सत्पुरुष को विवेक पूर्वक सोच विचार कर ही काम करना चाहिये अन्यथा उसका फल अच्छा न होगा। अनुष्टुप् छन्द है।

पत्रं नैव यदा करीरविटपे दोषो वसन्तस्य किं,
नोलूकोऽप्यवलोकते यदि दिवा सूर्यस्य किं दूषणम् ।
धारा नैव पतन्ति चातक मुखे मेघस्य किं दूषणम् ।
यत्पूर्वं विधिना ललाटलिखितं तन्मार्जितुं कः क्षम ।।१४।।

अन्वय—यदा करीरविटपे पत्रं न एव (भवति) वसन्तस्य दोषः किम् ? उलूकः अपि यदि दिवा न अवलोकते सूर्यस्य किं दूषणम्, चातकमुखे धारा न एव पतन्ति, मेघस्य किं दूषणम्, विधिना यत्—पूर्वं ललाटलिखितं तत्—मार्जितुं कः क्षमः ?

अर्थ—यदि करील वृक्ष पर पत्ता नहीं होता अर्थात् यदि करील नामक पेड़ की शाखाओं में पत्ते नहीं निकलते, तो इसमें क्या वसन्त ऋतु का दोष है ?(अर्थात् नहीं, इसमें तो उस करील का ही भाग्य दोष है, वसन्त का नहीं) यदि उल्लू भी दिन में नहीं देखता तो इसमें सूर्य का क्या दोष है, यदि जल धारायें चातक के मुख में नहीं गिरतीं तो इसमें मेघ का क्या दोष है अर्थात् कुछ भी नहीं। (वस्तुतः) ब्रह्मा ने पूर्वजन्म में जो कुछ ललाटपट्ट पर लिख दिया है उसे मिटाने के लिये कौन समर्थ है ? अर्थात् कोई नहीं।

भावार्थ—संसार में चाहे जितना धन वैभव बना रहे, पर मनुष्य को तो उतना ही मिलेगा जितना उसके भाग्य में पहले से ही लिख दिया गया है। वसन्त में जबकि सभी वृक्ष फलते फूलते हैं, करील में पत्ते भी नहीं निकलते, यह उसके भाग्य का ही दोष है। मेघों के बरसने पर भी यदि जल बिन्दु

चातक के मुख में नहीं पड़ते हैं तो यह चातक के भाग्य का ही दोष हैं मेघों का नहीं, सूर्य के सर्वत्र प्रकाशित होने पर भी यदि उल्लू को दिन में दिखलाई नहीं पड़ता तो यह भी उसके भाग्य का ही दोष है। इसी प्रकार सब कुछ सुख साधनों के रहते हुये भी यदि मनुष्य को सुख नहीं मिलता तो यह उसके भाग्य का ही दोष है और किसी का नहीं। अतः अपने दुःख के समय दूसरों पर दोष लगाना भूल है, "कोउ नहि जग सुख दुख कर दाता, निज कृत कर्म भोग सब भ्राता।" शार्दूल विक्रीडित छन्द है।

को लाभो गुणिसङ्गमः किमसुखं प्राज्ञेतरैः संगतिः।
का हानिः समयच्युति निपुणता का धर्मतत्वे रतिः॥
कः शूरो विजितेन्द्रियः प्रियतमा काऽनुव्रता किं धनं,
विद्या किं सुखमप्रवासगमनं राज्यं किमाज्ञाफलम् ॥१६॥

अन्वय—कः लाभः, गुणिसङ्गमः, असुखम् किम्, प्राज्ञेतरैः सङ्गतिः, का हानिः, समयच्युतिः, निपुणता का, धर्मतत्वे रतिः, कः शूरः, विजितेन्द्रियः, प्रियतमा का, अनुव्रता, किं धनम्, विद्या, किं सुखम्, अप्रवासगमनम्, राज्यं किम्, आज्ञाफलम्।

अर्थ—लाभ क्या है, गुणी जनों की संगति, दुःख क्या है, मूर्खों की संगति, हानि क्या है, समय चूक जाना, निपुणता क्या है, धर्मतत्व में अनुराग होना, शूर वीर कौन है, इन्द्रिय जयी अर्थात् जितेन्द्रिय, प्रियतमा कौन है, जो अनुकूल स्त्री हो, धन क्या है, विद्या, सुख क्या है, पर देश में न जाना, राज्य क्या है, आज्ञा रूपी फल अर्थात् जिसमें आज्ञा देने की शक्ति हो वही राज्य है।

भावार्थ—कवि ने यहाँ सुख दुःख आदि वास्तव में क्या होते हैं उनको ही स्पष्ट किया है, बहुत से लोग दुःखद वस्तुओं को प्राप्त कर ही सुख मान बैठते हैं उन्हें यहाँ बतलाये गये पदार्थों को देखना चाहिये और इनको समझ कर ही व्यवहार करना चाहिये। शार्दूल विक्रीडित छन्द है।

अप्रियवचनदरिद्रैः प्रियवचनाढ्यैः स्वदारपरितुष्टैः।
परपरिवादनिवृत्तैः क्वचित्क्वचिन्मण्डिता वसुधा ॥१६॥

अन्वय—अप्रियवचनदरिद्रैः प्रियवचनाढ्यै स्वदारपरितुष्टैः परपरिवादनिवृत्तैः (जनैः) वसुधा कचित्-कचित् मण्डिता (अस्ति)

अर्थ—अप्रिय वचनों के दरिद्र अर्थात् कभी भी कटु वचन न बोलने वाले, प्रियवचनों के धनी अर्थात् सदा प्रिय मधुरवचन ही बोलने वाले, केवल अपनी

पत्नी से ही सन्तुष्ट रहने वाले, तथा परनिन्दा से विमुख रहने वाले ही लोगों से (यह) पृथ्वी कहीं-कहीं शोभित है।

भावार्थ—वस्तुतः सदा प्रियभाषी स्वपत्नी से सन्तुष्ट और पर निन्दा से दूर रहने वाले मनुष्य संसार में विरले ही होते हैं इसीलिये कवि कहता है कि ऐसे लोगों से यह पृथिवी कहीं-कहीं ही शोभित होती है सर्वत्र नहीं क्योंकि ऐसे लोग कम ही होते हैं। आर्या जाति।

एकेनापि हि शूरेण पादाक्रान्तं महीतलम्।
क्रियते भास्करेणेव परिस्फुरिततेजसा ॥१७॥

अन्वय—परिस्फुरिततेजसा भास्करेण इव एकेन अपि हि शूरेण महीतल पादाक्रान्तं क्रियते।

अर्थ—चारों ओर देदीप्यमान तेज वाले सूर्य की तरह एक ही शूर वीर से पृथिवी तल अपने पैरों से आक्रान्त कर लिया जाता है।

भावार्थ—जैसे एक ही प्रकाशवान् सूर्य अपनी किरणों से समस्त भूमण्डल को आक्रान्त कर लेता है अर्थात् प्रकाशित एवं प्रभावित कर लेता है उसी प्रकार तेजस्वी वीर पुरुष अकेला ही समस्त भूमण्डल को अपने चरणों तले दबा कर वशवर्ती वना लेता है, ठीक ही कहा गया है, 'वीरभोग्या वसुन्धरा।' पाद शब्द का अर्थ सूर्य पक्ष में 'किरण' है और वीर पक्ष में 'चरण' है। पर ऐसे वीर विरले ही होते हैं। अनुष्टुप् छन्द है।

लज्जागुणौघजननीं जननीमिव स्वाम्,
अत्यन्त शुद्धहृदयामनुवर्तमानाम्।
तेजस्विनः सुखमसूनपि सन्त्यजन्ति,
सत्यव्रतव्यसनिनो न पुनः प्रतिज्ञाम् ॥१८॥

अन्वय—सत्यव्रतव्यसनिनः तेजस्विनः असून् अपि सुखं सन्त्यजन्ति, पुनः अत्यन्तशुद्धहृदयाम् अनुवर्तमानाम् स्वाम् जननीम् इव लज्जागुणौघजननी प्रतिज्ञाम् न सत्यजन्ति।

अर्थ—सत्यव्रत में रुचि रखने वाले तेजस्वी पुरुष प्राणों को भी सुख पूर्वक छोड़ देते हैं किन्तु वे अत्यन्त शुद्ध हृदय वाली एवं अनुकूल आचरण करने वाली अपनी माता के समान लज्जादि गुण समूह को उत्पन्न करने वाली प्रतिज्ञा को कभी नहीं छोड़ते।

भावार्थ—"अंगीकृत सुकृतिनः परिपालयन्ति" इस उक्ति के अनुसार सत्पुरुष जिस बात के लिये एक बार दृढ़ प्रतिज्ञा कर लेते हैं फिर उसे कभी नहीं छोड़ते, भले ही उनको इस प्रतिज्ञा के पालन करने में अपने प्राण ही देने पड़ें। सत्यव्रत में रुचि रखने वाले तेजस्वी पुरुषों का ऐसा स्वभाव ही होता है। ऐसे सत्पुरुषों को अपनी प्रतिज्ञा अपनी माता के समान ही प्रिय एवं गुण-कारिणी तथा अत्याज्य होती है, माता जिस प्रकार पुत्र के लिये अनुकूल आच-रण करने वाली अति शुद्ध हृदय वाली होती है अतएव वह सर्वथा रक्षणीय एवं अत्याज्य होती है उसी प्रकार सत्पुरुष की प्रतिज्ञा सत्पुरुष के आचरणों के अनुकूल एवं अनेक सद्‌गुणों को उत्पन्न करने वाली होती है। अतएव वह उनके द्वारा परिपालनीय होती है। वसन्ततिलका नामक छन्द है।